दशलक्षण धर्म

अथवा

दशधर्म-दीपक।

[जाप्यमंत्र, दशधर्म सवैये, दशलक्षण व्रत कथा, दशधर्म भजन और दशलक्षण व्रतोद्यापन सहित]

लेखक—
स्व० धर्मरत्न पं० दीपचन्द्रजी वर्णी,
नरसिंहपुरनिवासी।

प्रकाशक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
मालिक, दिगम्बर जैन पुस्तकालय,
गांधीचौक, सूरत।

चतुर्थावृत्ति] वीर सं० २४६८ [प्रति ६००

मूल्य—नौ आना।

मुद्रक:
मूलचन्द किसनदास कापड़िया
जैन विजय प्रेस,
सूरत

निवेदन

जैन धर्ममें धर्मके दशलक्षण वताये गये हैं अतः उसको दशलक्षण धर्म कहते हैं और इसीपर धर्मकी इमारत खड़ी है। इसका इतना महत्व है कि इसीके नामसे जैनोंका महान पर्व दशलक्षण पर्व प्रतिवर्ष मनाया जाता है।

जैन भाषा शास्त्रोंमें इन दश धर्मोंका स्वरूप सामान्यरूपसे दर्शाया गया है लेकिन सर्वसाधारणके समझनेमें आजावें उस प्रकारसे इनका स्वरूप दर्शानेवाले ग्रन्थकी वड़ी आवश्यक्ता थी जिसको हमारे निवेदनसे स्व० धर्मरत्न पं० दीपचन्दजी वर्णी (नरसिंहपर सी. पी. निवासी) ने २८ वर्ष हुए पूर्ण कर दी थी। तव हमने वीर सं० २४४० में उसकी २००० प्रतियां छपाकर वितरित की थीं, फिर इसकी दूसरी आवृत्ति वीर सं० २४४३ में प्रकट की और तीसरी आवृत्ति वीर सं० २४५३ में प्रकट की थीं। वह भी खतम हो जानेसे इसकी यह चतुर्थ आवृत्ति प्रकट की जाती है।

इस आवृत्तिमें इसवार कई विशेषताएं की गई हैं जैसे कि मुखपृष्ठपर खास खर्च करके 'दशधर्म दीपक' का आकर्षक व भावपूर्ण चित्र वनाकर रखा है तथा भीतर दशलक्षण व्रत कथाके साथ २ स्व० ब्र० सीतलप्रसादजी कृत एक दशधर्म भजन और आचार्यश्री सुमतिसागरजी कृत दशलक्षण व्रत उद्यापन भी जोड़

दिया है जिससे दशलक्षण व्रतके १० उपवास करनेवालोंको दशलक्षण व्रत कथा पढ़नेमें तथा उद्यापन करनेमें सुभीता होगा। इस व्रतका उद्यापनमें १०० कोठेका साथिया निकालना पड़ता है तथा सब प्रकारके दश २ उपकरण मंदिरमें चढ़ानेका रिवाज है वह यथाशक्ति करना चाहिये तथा दशलक्षण व्रत करनेवालोंको खास करके शास्त्रदानमें अच्छी रकम निकालना चाहिये और इस पुस्तककी प्रभावना तो अवश्य २ करनी चाहिये। अब कांच व धातुके वर्तनोंकी प्रभावनाकी आवश्यक्ता नहीं है, यह ख्याल रखना चाहिये।

दूसरी आवश्यक सूचना यह है कि इस ग्रन्थका आद्यंत मननपूर्वक वारवार स्वाध्याय करते रहें और दशलाक्षणिक व्रतके दिनोंमें नित्य एक२ धर्मका पाठ सबको सुनाना चाहिये व उसपर विशेष उपदेश देते रहना चाहिये। यदि हम इन दश धर्मोंका अच्छी तरहसे पालन कर सकेंगे तो सब कुछ कर सकेंगे ऐसा निःसंशय कहा जा सकता है।

आशा है इस चतुर्थावृत्तिका भी शीघ्र ही प्रचार हो जायगा।

सूरत
वीर सं० २४६८
चैत्र सुदी १२
ता० २७-२-४२

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया।
—प्रकाशक।

श्रीवीतरागाय नमः।

श्रीदशलक्षण धर्म।

वत्थु सहावो धम्मो, खमादि भावो य दसविहो धम्मो।
रयणतयं च धम्मो. जीवाणं रक्खणं धम्मो॥
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा।

अर्थ—वस्तुका जो स्वभाव है वह धर्म है, अर्थात् जैसे जीव दर्शनज्ञानादि उपयोग स्वभाव तथा चेतनस्वभाव अथवा पुद्गल अचेतनत्व वा स्पर्श, रस, गंध, वर्णत्व आदि स्वभाव होता है, उत्तम-क्षमादि दश प्रकारके भाव भी धर्म हैं और रत्नत्रय रूप भी धर्म होता है तथा अहिंसा लक्षण अर्थात् जीवोंकी रक्षा करना भी धर्म है।

भावार्थ—यद्यपि उक्त गाथामें वस्तुके स्वभावको, उत्तम क्षमादि दश लक्षणोंको, रत्नत्रयको और अहिंसाको, इस प्रकार धर्म चार प्रकारसे कहा है तथापि निश्चयसे विचार करनेपर केवल वस्तुस्वभावमें ही अन्य तीनों प्रकार गर्भित हो सकते हैं। कारण यहांपर जो धर्म शब्दकी व्याख्या की गई है, वह जीवकी अपेक्षा की गई है; इस-लिये जिस प्रकार अजीवका स्वभाव जड़त्व है, उसी प्रकार जीवका स्वभाव चेतनत्व अर्थात् ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिरूप होता है अर्थात् जहां चेतनत्व होता है, वहां उससे अविनाभावी सम्बन्ध रखनेवाले दर्शन और ज्ञानगुण अर्थात् देखना व जानना अवश्य ही होता है। यह कथन अभेदनयकी अपेक्षासे है

यद्यपि जीवका स्वभाव चैतन्य-दर्शन और ज्ञानमयी है तथापि यह अनादि कर्मबन्धके कारण पुद्गलसे मिला हुआ विभाव अर्थात् रागद्वेषरूप परिणमन करता रहता है और इसीसे यह इष्ट-अनिष्ट बुद्धिको प्राप्त होकर कभी क्रोध, कभी मान, कभी माया, कभी लोभ, कभी तृष्णा, कभी आशा, कभी झूठ, कभी स्वच्छन्द इंद्रिय विषयासक्त-रूप प्रवृत्ति, कभी कुशील और कभी कुध्यानरूप प्रवृत्ति करता है। कभी अन्यथा श्रद्धान अर्थात् अतत्त्व श्रद्धान करके वस्तुस्वरूपको अन्यथा ही जानता हुआ अन्यथा प्रवृत्ति करता है। अथवा कभी स्वार्थ व प्रमादवश होकर परपीड़नरूप प्रवृत्ति करता रहता है। सो यदि वह पदार्थके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान व ज्ञान करके तदनुसार ही प्रवृत्ति करे जिसे कि "रत्नत्रय" कहते हैं, तो विभाव (रागद्वेष आदि) होने ही न पावें। तब ही क्रोधादि भावोंके न होनेसे उत्तम-क्षमादि दश प्रकारका धर्म कहा जासकेगा। अर्थात् जब यह जीव स्वभावरूप ही परिणमन करेगा तब न तो इससे षट्कायी जीवोंके हननरूप बाह्य हिंसा ही होगी, और न रागादि भावरूप अंतरंग हिंसा होगी। इस प्रकार हिंसाके न होनेसे अहिंसा स्वयमेव हो जावेगी।

इसप्रकार उक्त गाथामें कहे हुए धर्मके भिन्न भिन्न लक्षणोंकी यद्यपि भेदविवक्षासे भिन्नता प्रतीत होती है तथापि अभेद विवक्षासे एकता ही है।

अब यहां उत्तमक्षमादि दश प्रकार धर्मोंका विशेष स्वरूप कहते हैं—

भगवान् उमास्वामीने धर्मका स्वरूप कहा है:—

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयम-
तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्म्मः ॥"

भावार्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिञ्चन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य्य, ये दश प्रकार धर्म अर्थात् आत्माके स्वभाव हैं।

सो ही कार्तिकेयस्वामीने कहा है यथा:—

सो चिय दहप्पयारो खमादि भावेहिं सुक्खसारेहिं।
ते पुण भणिज्जमाणा मुणियव्वा परमभत्तीए ॥

सो धर्म क्षमादि भावरूप दश प्रकार है और सच्चे सुखका देनेवाला है अथवा यही सुखस्वरूप अर्थात् सुखका सार है, और वह आगे कहा जानेवाला दश प्रकार क्षमादि भावरूप धर्म परम भक्ति अर्थात् धर्मानुरागपूर्वक जानने व मनन करने योग्य है।

(स्वा० का० अ०)

उत्तम क्षमा।

कोहेण जो ण तप्पदि सुरणर तिरिएहिं कीरमाणेवि।
उवसग्गे वि रउद्दे तस्स खिमा णिम्मला होदि ॥

अर्थात्—जो देव, मनुष्य तथा तिर्यंचों द्वारा घोराग्घोर उपसर्ग होनेपर भी क्रोधसे संतप्त नहीं होते हैं उनके निर्मल अर्थात् उत्तम क्षमा होती है। (स्वा० का० अ०)

भावार्थ—किसी भी प्रकारके देव, मनुष्य तथा तिर्यंचोंकृत उपसर्गोंद्वारा होनेवाले दुःखको, विना संक्लेश भावोंके सह लेनेकी

शक्तिको उत्तम क्षमा कहते हैं । अर्थात् जिस शक्तिके कारण जीव किसी भी प्रकारके उपसर्ग व कष्ट (दुःख) आनेपर भी घबराते नहीं, अर्थात् व्याकुल न होवे, किन्तु उस दुःख व क्लेशको अपना ही पूर्वोपार्जित कर्मका फल जानकर समभावोंसे सहन करे, सो क्षमानाम आत्माका गुण है । प्राय: समस्त संसारी प्राणी अपने इस उत्तमक्षमा गुणको भूले हुए इसके विपरीत–इंद्रियोंके इष्ट विषयों वा विषयोंकी योग्य सहायक सामग्रीमें और विषयानुरागी स्वमनोनुकूल चलनेवाले मित्रोंमें राग (रति) करते हैं । और इनसे उलटे इन्द्रियोंको अनिष्ट-सूचक पदार्थ व इच्छाविरुद्ध पुरुषोंसे द्वेष अर्थात् अरति (अप्रीति) करते हैं । ऐसी अवस्थामें इष्टानिष्ट (रति–अरति) सूचक जो कुछ भाव होते हैं वे ही आत्माके परसंयोगसे उत्पन्न हुए वैभाविक भाव हैं।

तात्पर्य—जब किसी जीवको इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है तब वह प्रफुल्लित चित्त हुआ अपने आपको परम सुखी मानता है । और समझता है कि इस इष्ट वस्तुका वियोग मुझसे कदाचित् भी कभी नहीं होगा और इसीलिये वह उसमें तल्लीन हो जाता है। परन्तु जब कोई भी चेतन अर्थात् देव मनुष्य या पशु या अचेतन पदार्थ उसकी उस इष्ट वस्तुके वियोगका कारण बन जाता है, तब वह विषधर (सर्प) के समान क्रोधित होकर उसका सर्वस्व नाश करनेका उद्यम करता है । इसीको क्रोधभाव–कषाय कहते हैं ।

क्षमा गुण इसी क्रोधभावका उल्टा आत्माका स्वभाव है ।

जब यह जीव निज भावरूप परिणमन करता है, तब ही इसको उतने ही समय तक, जब तक वह स्वभावोंमें स्थिर रहता है, सुखी

कह सकते हैं क्योंकि यथार्थमें सुख अपने आत्मस्वभावको प्राप्त होनेको कहते हैं, और ज्योंही यह स्वभावसे च्युत होकर परभाव अर्थात् विभाव भावोंको प्राप्त होता है कि यह तुरन्त दुःखी हो जाता है। तात्पर्य उपर्युक्त कथनसे यह निश्चित हो चुका कि क्रोधभाव आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु वह पर पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न हुवा विभाव भाव है, इसलिये ये भाव जीवको केवल दुःखके देनेवाले हैं।

सुख प्राप्त करना जीवमात्रको अभीष्ट है। इसीलिये प्राणीमात्रको चाहिये कि विषधरके समान भयंकर और प्राणघातक जानकर इस क्रोधको छोड़देवें और उत्तम क्षमाको धारण करके सुखी होवें।

यदि यहां यह शंका उपस्थित हो कि क्षमासे पारलौकिक—(मुक्ति) सुख मिल सकता है, किन्तु संसारी सुख तो नहीं मिलता?

तो उत्तर यह है कि यह क्षमाभाव मुक्ति सुखका तो हेतु है ही किन्तु सांसारिक सुखका भी एक प्रधान हेतु है। देखो, लोकमें कहावत है कि वनिया सबसे मोटा होता है, क्योंकि वह गम् खाता—क्षमा रखता है और क्षत्रिय दुबला होता है, क्योंकि वह सदा बात बातमें क्रोधित होजाता है। कहा भी है—

कोपः करोति पितृमातृसुहृजनाना-
मप्यप्रियत्वमुपकारिजनापकारम्।
देहक्षयं प्रकृतकार्यविनाशनं च,
मत्वेति कोपवशिनो न भवन्ति भव्याः॥

—सुभाषितरत्नसन्दोह।

अर्थ—क्रोधसे मातापितादि स्नेही पुरुषोंका अप्रिय, उपका-

रियोंका अपकारी होजाता है, शरीर क्षीण होता है और सांसारिक कार्य भी विगड़ जाते हैं, ऐसा समझकर भव्य (उत्तम) पुरुष कदापि क्रोधके वश नहीं होते हैं।

क्रोधसे जीवोंको कैसे कैसे दुःख भोगने पड़ते हैं इसीके उदाहरण स्वरूप श्रेणिकपुराणकी एक कथा कहते हैं कि—एक नगरमें किसी ब्राह्मणकी इकलौती सुन्दर कन्या थी और वह ब्राह्मण राजपुरोहित था। इसलिये वह छोटी कन्या पिताके साथ कभी कभी राजमहलमें आया जाया करती थी। राजा भी उस कन्यापर रूपवती होनेके कारण बहुत प्रेम करते थे। यद्यपि वह कन्या रूपवती तथा विद्यावती थी, तथापि उसमें क्रोध भी असीम था, इसलिये यदि कोई कभी उसे तू करके बोल देता, तो वह मारे क्रोधके लाल हो जाती थी। प्राणियोंकी रुचि विचित्र है। लोगोंने उसे तू शब्दसे चिढ़ती हुई जानकर और भी चिढ़ाना आरम्भ किया। यहांतक कि उसका नाम ही 'तूकारी' पड़ गया। तूकारी लोगोंके केवल तू शब्दपर ही अनेक गालियां देती, मारने दौड़ती और किसी किसीको मार भी बैठती थी तो भी राजाके भयसे उससे कोई कुछ भी नहीं कह सकता था।

जब वह कन्या तरुण हुई, तो उसके क्रोधी स्वभावके कारण कोई उसे नहीं व्याहता था। निदान कोई एक जुआरी—द्यूतव्यसनी ब्राह्मणने (जो कि जुआमें उधार द्रव्य लेकर हार गया था और जिसे अन्य जुआरी अपना उधार दिया हुआ द्रव्य न पानेके कारण नाकमें कौड़ी पहिनाकर और उल्टा झाड़से टांगकर मार रहे थे, छुटकारा

पानेकी इच्छासे) व्याहना स्वीकार कर लिया। सो देखो, वह तूकारी क्रोधित होनेके कारण एक रंक, गुणहीन, कुरूप, व्यसनी पुरुषसे व्याही गई । पश्चात् किसी एक दिन उसका पति राजसभासे कुछ देरीसे आया कि इसीपरसे क्रोधित होकर वह (तूकारी) घरसे निकल गई । और चोरोंके हाथ पड़ी और जब उन्होंने उसका शील-भंग करना चाहा, तब उसके शीलके माहात्म्यसे वहां वनदेवीने आकर उसकी रक्षा की । फिर जब वह चोरोंसे छूटी तो वणजारोंके हाथ पड़ी । उन्होंने भी उसी प्रकार उसपर कुदृष्टि की है, तब फिर भी उसने वनदेवीकी सहायतासे रक्षा पाई, तब वणजारोंने क्षोभित होकर उसे एक छीपे--(कपड़े छापनेवाले) को बेच दी । वह छीपा उसका मस्तक आठवें पन्द्रहवें दिन चीरकर लोहू निकालता और उससे कपड़े रंगता । फिर जड़ीबूटियों (लक्षमूल) के तेलसे उसका घाव अच्छा कर देता था । इस प्रकार कई महीनों तक कितने ही बार उसका मस्तक चीरा गया कि जिससे उसे घोर वेदना भोगनी पड़ी । एक दिन भाग्यवश कहीं उसका चाचा वहां पहुँच गया और छीपाको कुछ द्रव्य देकर ज्यों त्यों उसे छुड़ा लाया । तबसे तूकारीने क्रोध करना सर्वथा छोड़ दिया । तात्पर्य--क्रोधके कारण ही तूकारीको इतने दुःख भोगने पड़े इसलिये क्रोध पिशाचको दूरसे ही छोड़ देना चाहिये, और भी कहा है कि—

" क्षमा हने औरको, अरु क्रोध हने आपको । "

देखो, जो शत्रु बड़े बड़े शस्त्रधारी क्षत्रियोंसे भी अनेक चेष्टाएं करनेपर भी वश नहीं होते हैं या जो सिंह व्याघ्रादि घातक जीव

संसारके प्राणियोंको सर्वदा भयभीत करते रहते हैं, वे सब अनायास ही क्षमावान् महात्मा पुरुषोंके वशमें होजाते हैं ।

क्षमावान् पुरुषका कभी कोई भी शत्रु नहीं होता है । देखो, जब कोई पुरुष किसी अन्य पुरुषपर कुछ क्रोध करता है और वह अन्य पुरुष यदि उसे शान्ति भावसे सहन कर लेता है, तो क्रोध करनेवाला पुरुष स्वयं ही लज्जित हो पश्चात्ताप करने लगता है ।

और भी क्रोधसे क्या २ हानि होती है सो सुनिये—क्रोधी पुरुष मणिवाले सर्प्पवत् गुणयुक्त होनेपर भी प्रशंसा नहीं पाता, क्रोधी पुरुषके व्रत, जप, तप, नियम, उपवास, संयम, दान, पूजा, जप, स्वाध्याय, विद्या आदि समस्त गुण पुण्यसहितके भी क्षणभरमें भस्म होजाते हैं। क्रोधसे धैर्य्य छूट जाता है, बुद्धि नष्ट होजाती है रोग घेर लेते हैं, हठ बढ़ जाता है, शरीर शिथिल होजाता है, धर्म अलग होजाता है, वचन अन्यथा प्रवृत्त होने लगते हैं, मुख व नेत्र लाल होजाते हैं, शरीर कांपने लगता है, रोमांच खड़े होजाते हैं, विचारशक्ति नहीं रहती है, दया चली जाती है, मित्रताके बदले शत्रुता बढ़ जाती है, अपयश फैल जाता है, दरिद्रता घेर लेती है, इत्यादि और भी अनेक प्रकारसे हानि होती है और इसके विपरीत क्षमासे सर्व गुण प्रगट होते हैं, इसीलिये सुखाभिलाषी सत्पुरुष सदैव क्षमाभाव धारण करते हैं ।

जब कोई उन्हें दुर्वचन कहता है, अर्थात् उनपर क्रोध करता है, तो वे सोचते हैं कि अमुक पुरुषके क्रोधका कारण क्या है ? यदि मैंने उसका कुछ भी अपराध किया है, तब तो मुझपर उसका क्रोध कर दुर्वचन कहना ठीक ही है । मैंने क्यों ऐसा अनर्थ किया, जिससे

परके परिणामोंमें क्रोधभाव उत्पन्न होगया। अब जैसे बने उसे क्षमा ग्रहण कराना उचित है और इसलिये वे अपने दोषोंकी आलोचना करके स्वनिन्दा करते हुए उस पुरुषसे नम्र शब्दोंमें क्षमा मांगकर शान्त कर देते हैं। और अपने आपको किंचित् भी क्रोध नहीं आने देते हैं।

किन्तु कदाचित् कोई निष्कारण ही क्रोध कर कुवचन बोले तो सोचते हैं कि इसमें मेरा तो कुछ भी दोष है ही नहीं, यह पुरुष व्यर्थ ही क्रोधसे अपने आत्माको मलिन कर कर्मबन्ध कर रहा है और व्यर्थ ही विना सोचे मुझको दुर्वचन कह रहा है। यह अज्ञानी है, पागल है। इसीसे यह विवेक विना व्यर्थ ही अपना समय नष्ट करता हुवा स्ववचन बिगाड़ रहा है सो पागल व अज्ञानीके कहनेका बुरा ही क्या मानना? वह तो अभी केवल मुंहसे ही बकता है, मारता तो नहीं है क्योंकि पागल तो मारता है, बांधता है, काटता है, कपड़े फाड़ देता है, वस्तुओंको तोड़ मरोड़ कर फैंक देता है, और अनेक नहीं करने योग्य कार्य भी करता है, सो अभी तो यह केवल मुंहसे ही दुर्वचन कह रहा है और कुछ तो नहीं करता है, सो ये दुर्वचन मेरे शरीरमें कहीं भी चिपट तो जाते नहीं हैं, इसलिये इनसे मेरी हानि ही क्या है? कुछ नहीं।

अब यदि उन्हें कोई मारने भी लगे तो सोचते हैं कि वह मुझे केवल मारता ही तो है, कुछ प्राण रहित तो नहीं करता है।

और यदि कोई प्राण हरण भी करने लगे, तो सोचते हैं कि यह प्राण ही तो हरण करता है, कुछ मेरा धर्म जो क्षमा (आत्माका

स्वभाव) है, उसे तो हरण नहीं करता है। अर्थात् यह रङ्क मेरे अविनाशी, सच्चिदानन्द अखण्ड स्वरूप चैतन्य आत्माको तो देख ही नहीं सकता, तब पीड़ा किसे देगा? और जिसे यह मारता काटता बांधता व हरण कर रहा है, वह तो मेरा स्वरूप ही नहीं है। वह जड़ अर्थात् अचेतन है, नाशवान् है। किसी न किसी दिन इसका वियोग तो होना ही है सो आज इसीके हाथसे सही। और यदि यह मेरे प्राण हरनेमें ही प्रसन्न है, तो अच्छा ही है। मेरा जो पूर्वकृत कर्मोंका इससे वैर था, सो यह अभी मेरी सावधान अवस्थामें लिये लेता है। यह इसका मुझपर बड़ा उपकार है। जो कदाचित् असावधान अवस्थामें प्राण हरण करता, तो संभवतः मेरा कुमरण होकर मैं दुर्गतिमें चला जाता।

इसलिये मेरा कर्तव्य है कि मैं इस पूर्वकर्मकृत आये हुए उपसर्गको शांतिपूर्वक सहन कर समाधिमरण सहित प्राण त्याग करूँ। इसीमें मेरा कल्याण है। इसलिये वे ऐसा विचार करके कि—

खम्मामि सव्व जीवानां सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्व भूदेसु वैरं मज्झं न केणवि ॥ १ ॥

अर्थात्—मैं सब जीवोंको क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझपर भी क्षमा करो, मेरे सबसे मित्रभाव है, मुझे किसीसे भी वैर-द्वेषभाव नहीं है, उत्तमक्षमा धारण करते हैं—

तात्पर्य—मित्र क्षमा सम जगतमें, नहीं जीवको कोय।
अरु वैरी नहीं क्रोध सम, निश्चय जानो लोय ॥

सो ही पं० द्यानतरायजीने कहा है—

पीड़ै दुष्ट अनेक, बांध मार बहु विध करें ।
धरिये क्षमा विवेक, कोप न कीजे प्रीतमा ॥ १ ॥

उत्तम क्षमा गहोगे भाई, यह भव यश परभव सुखदाई ।
गाली सुन मन खेद न आनो, गुणको औगुण कहे अजानो ॥
कहे अजानो वस्तु छीने, बांध मार बहुविधि करे ।
घरसे निकारे तन विदारे, बैर तो न तहां धरे ॥
तू कर्म पूरब किये खोटे, सहै क्यों नहिं जीयरा ।
अति क्रोध अग्नि बुझाय प्राणी, साम्य जल ले सीयरा ॥ १ ॥

इति उत्तमक्षमा धर्मांगाय नमः ।

उत्तम मार्दव ।

उत्तमणाणपहाणो उत्तम तव यरण करण सीलोवि ।
अप्पाणं जो ही लदि मद्दव रयण भवे तस्स ॥

अर्थात्—जो उत्तम ज्ञानमें प्रधान और उत्तम तपश्चरण करनेमें समर्थ होनेपर भी अपने आत्माको मानकषायसे मलिन नहीं करते हैं उनके उत्तममार्दव धर्म होता है । (स्व० का० अ०)

भावार्थ—निर्गुणी, दीन, दरिद्री, अशक्त, अज्ञानी, हीन, कुलजातिवाला, कुरूप, चारित्रहीन पुरुष यदि विनय (नम्रता) धारण करते हैं तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि उनको तो दबना ही पड़ता है या वे दबाये जाते ही हैं । सो उनके ऐसा करनेसे वे

कुछ मार्दव गुणके धारी नहीं कहे जाते। क्योंकि उनकी यह विनय व नम्रता स्वाभाविक नहीं है किन्तु दबाव व लाचारीकी है। वे अवसर पाकर पुनः मस्तक उठाकर चलने लगते हैं।

परन्तु जो उत्तम ज्ञानवान्, तपस्वी, ऐश्वर्यवान, समर्थ, बलवान्, रूपवान, कुलवान, उत्तम जातिवान तथा धनवान होते हुवे भी इनका मान नहीं करते और यथायोग्य विनय व शिष्टाचाररूप प्रवर्तन करते हैं अर्थात् बड़ों (जो ज्ञान चारित्र दीक्षा पद व वयमें वृद्ध हैं) की विनय भक्ति और छोटोंमें दया व मृदुभाव रखते हैं और अपने आत्माको मानकषायरूपी मलसे मलिन नहीं होने देते हैं वे ही उत्तम मार्दव धर्मचारी कहे जाते हैं। क्योंकि कहा है—

मृदोर्भावः इति मार्दवः अर्थात्—मृदु (नम्र) भावोंका होना सो ही मार्दव धर्म हैं। उत्तम अर्थात् सच्चा कि जिसमें दिखावट या बनावट न हो, ऐसा उत्तम मार्दव धर्म आत्माहीका निजस्वभाव है। यह गुण आत्मासे, मान कषायके क्षय, उपशम वा क्षयोपशम होनेसे प्रगट होता है—अर्थात् जबतक किसी जीवको मानकषायका उदय रहता है, तबतक वह प्राणी अपने आपको सर्वोच्च मानता और दूसरेको तुच्छ गिनता हुआ, सबको अपने आधीन बनानेकी चेष्टा करता रहता है और जो कोई उसे नमस्कार व प्रणाम आदि शिष्ट व्यवहार नहीं करता है वा इससे मध्यस्थ अथवा विपक्षी होकर रहता है, तो वह उसे देख नहीं सकता तथा सदैव उसे नीचा दिखानेका विचार और उपाय किया करता है। यहांतक कि वह अपने बलाबलको न विचारकर अपनेसे सबलका भी साम्हना कर बैठता है और बंदी हो

जानेपर भी वह अपनेको नतमस्तक न करके नष्टप्राय: होजाता है, इसीको मान कषाय कहते हैं।

इस कषायके उदय होते हुए विचार-शक्ति कम हो जाती है। देखो, लंकाधिपति प्रतिवासुदेव दशानन (रावण) जब सीताको हर लाया और जब मंदोदरी आदि समस्त स्वजनोंने उसे समझाया कि सीता रामचंद्रको पीछे दे दो और अपने पवित्र कुलमें परस्त्री रूपी मल न लगाकर सुखपूर्वक राज्य करो या वनमें जाकर तपश्चरण करो इसीमें हित है, तब उसने यही उत्तर दिया कि—

"जानि हैं कायर मुझे नृपगण सभी संग्रामसे;
तासे लड़ना है मुझे धुन बांधके अब रामसे।
जीतकर अर्पूं सिया प्यारी जु उनके प्राणसे;
यश होय मेरा विश्वमें बेशक सियाके दानसे ॥"

अर्थात्—सब क्षत्रियगणोंको विदित होगया है कि रावण सीताको हर लाया है और राम लक्ष्मण युद्धके लिये भी आगये हैं सो यदि मैं सीताको अभी रामके पास पहुँचा दूँ, तो क्षत्रियगण मुझे कायर समझकर हास्य करेंगे, इसलिये मैं रामचंद्र लक्ष्मणको युद्धमें जीतकर, सीता और उसके साथ बहुतसा द्रव्य देकर उन्हें बिदा करूंगा। किन्तु इस समय तो सीताको न भेजकर केवल युद्ध करना ही अभीष्ट है इत्यादि। और इस प्रकार उस महापुरुषने अन्त तक—प्राण जाते हुए भी अपने प्रणको नहीं छोड़ा तथा वीरभूमि (रणक्षेत्र)में ही मृत्युको प्राप्त हुआ।

इसीलिये संसारमें मानी पुरुषोंको लोग रावणकी उपमा देकर

कहा करते हैं कि देखो—

"इक लख पूत सवा लख नाती ।
ता रावण घर दिया न बाती ॥"

तात्पर्य—गर्व (मान=अहंकार) मत करो, त्रिखण्डी रावणका भी मान नहीं रहा है तो औरोंकी क्या बात? इत्यादि ।

सो जब इस प्रकारके मान कर्मका क्षय वा उपशम होता है तभी आत्माका मार्दव नामक स्वाभाविक गुण प्रगट होता है ।

इस गुणके प्रगट होते हुए जीव अपने सिवाय अन्य समस्त जीवोंको अपने समान समझता है, तब उसे किसीसे रागद्वेष नहीं होता । वह विचारता है कि सब जीव समान हैं, कोई कम–बढ़ नहीं है । और जब कोई कम–बढ़ है ही नहीं, तब मैं जिनको आधीन करना चाहता हूं, जिनको मैं अपमानित करना चाहता हूं, जिन्हें आज्ञाकारी बनाकर नमस्कार कराना चाहता हूं, वे सब मेरे ही समान हैं। फिर समान समानमें अधिकारी और अधिकृत भाव कैसा? और तू जो अभी अपने आपको बड़ा समझता है, सो जब नरक पशु आदि गतियोंमें, हीन सेवक देवोंमें व नीच गोत्रीय मनुष्योंमें उत्पन्न हुआ था, तब वह तेरा बड़प्पन कहां चला गया था? तू सैकड़ों-वार क्या असंख्यात वार नरक निगोदमें गया, एक पाईकी भाजी खरीदनेवालेके यहां रूकनमें चला गया, मैलेका कीड़ा हुआ, तब तेरा बड़प्पन कहां चला गया था?

आज जो तूने यह उत्तम कुल, बल, ऐश्वर्य या रूपादिक पाये हैं, यह सब तेरे पूर्वोपार्जित शुभ कर्मोंका ही फल है सो कर्म अपनी

स्थिति पूर्ण करके निर्जर जायगा, तब मेरा यह सब विनय लुप्त हो जायगा। क्योंकि कहा है—

"सदा न फूले केतकी, सदा न श्रावण होय।
सदा न यौवन थिर रहे, सदा जियत नहिं कोय॥"

अर्थात्—जिन कारणोंसे तू अपने आपको बड़ा मान रहा है, वे सब कारण एक दिन नष्ट होजांयगे। क्योंकि प्रकृतिका ऐसा ही नियम है। कार्तिकेयस्वामीने भी कहा है—

"जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरा सहिया।
लच्छी विनाश सहिया, यह सव्वं क्षणभंगुरं मुणह॥"

अर्थात्—जन्मके साथ मरण, यौवनके साथ बुढ़ापा और लक्ष्मीके साथ दरिद्रता लगी हुई है। इसलिये ये सब क्षणभंगुर (विनाशवान्) जानने चाहिये।

जब संसारके सर्व ही पदार्थ (पर्याय अपेक्षा) विनाशवान् हैं, तो फिर मान किस बातका? देखो, शरीरका बल और सौन्दर्य बुढ़ापा आते ही नष्ट होजाते हैं, सब इन्द्रियां शिथिल होजाती हैं जिससे वे अपने अपने विषयको ग्रहण कर नहीं सकतीं।

यौवन था तब रूप था, थे ग्राहक सब लोय।
यौवन रत्न गुमो पुनः, बात न पूछे कोय॥

इसलिये अभी तुम जो रूप सौंदर्य आदिके मदसे अपनी तरुणावस्थामें औरोंका हास्य व निन्दा करते हो सो वे भी तुम्हारी जरावस्था होनेपर तुम्हें हंसेंगे तब तुम्हें बहुत दुःख होगा और तुम्हारा मान गल जायगा, जिससे तुमको क्रोध उत्पन्न होनेसे तुम्हारा रहा सहा

आनन्द भी जाता रहेगा और तुम शक्तिहीन होनेसे किसीका कुछ कर भी न सकोगे । प्रायः निर्बलको क्रोध बहुत होता है क्योंकि वह क्रोधवश किसीको मनोनुकूल दंड नहीं दे सकता है, ताड़न तर्जन नहीं कर सकता है अर्थात् अपना बदला नहीं ले सक्ता तब स्वयं अपने आपका घात कर बैठता है । इसलिये ऐसे रूप सौन्दर्य बला-दिका मान करना क्या यथार्थ है ? कभी नहीं ।

यदि कर्मके क्षयोपशमसे कदाचित् तुमको कुछ भी ज्ञानका प्रकाश हुआ है, तो उसका मान मत करो, क्योंकि संसारमें तुमसे भी अधिक अनेकों ज्ञानी भर रहे हैं सो यदि तुम इस तुच्छ क्षायोपशमिक ज्ञानका मान करते हो, तो तुम उस ऊंटके समान हो, जो अपनेको संसारमें सबसे बड़ा मानता है, किंतु जब पहाड़की तलहटीमें पहुँचता है, तो उसका मान भंग होजाता है, उसे हार मानना पड़ती है और भूल स्वीकारना पड़ती है कि मैं सबसे बड़ा नहीं हूँ किन्तु मुझसे और भी बड़े बड़े पदार्थ संसारमें हैं ।

सो प्रथम तो यह क्षायोपशमिक ज्ञान है इसका घटना बढ़ना भी संभव है । दूसरे यह ज्ञान इन्द्रियाधीन है सो इंद्रियोंकी शक्ति कम होनेसे स्वयमेव कम होजाता है, इसीसे यह पराधीन और परोक्ष कहाता है । इसलिये जो तुम इसका मान करोगे, तो इन्द्रियोंकी शक्ति कम हो जानेपर ज्ञानमें न्यूनता व विपरीतता होनेसे तुम दूस-रोंकी दृष्टिमें हीन जँच जाओगे, हँसीके पात्र बन जाओगे, लोग तुम्हारी युक्तियोंको अयुक्ति ठहरावेंगे और तुम्हारे वचनोंको अप्रमाण समझेंगे, तब तुम्हें घोर दुःख होगा और उस समय तुम मानके

वशवर्ती होकर हठात् अपने असत्य वचनोंको भी सत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करोगे । जैसा कि बहुतसे आधुनिक पंडित पूर्वीय तथा पश्चिमी विद्याके अभ्यासी स्ववचन पोषणार्थ अनेकों कुयुक्तियाँ लगाकर ज्यों-त्यों स्वपक्ष मंडन और परपक्ष खंडन कर डालते हैं जिससे लोकमें असत्य वचनोंकी प्रवृत्ति हो जाती है और अनेकों मिथ्या मत संसारमें चल जाते हैं जिनमें भोले प्राणी फंस अपने आत्माका अकल्याण कर बैठते हैं । इसलिये ऐसे क्षायोपशमिक, पराधीन तथा अल्पज्ञानका मान करना वृथा है ।

देखो, जो कोई अल्पज्ञानका मान करता है और दूसरोंको अज्ञानी समझता है, वह सदा अज्ञानी ही बना रहता है, उसके ज्ञानकी वृद्धि कभी नहीं होती है। क्योंकि कहा है—

"विनय विना विद्या नहीं, विद्या विन नहीं ज्ञान ।
ज्ञान विना सुख नहिं मिले, यह निश्चय कर जान ॥"

इसलिये ज्ञानवृद्धिमें भी विनय प्रधान है और मान हानिकारक है।

यदि पूर्व पुण्यवशात् कुछ ऐश्वर्य—अधिकार, पूजा, प्रतिष्ठादि प्राप्त हुआ है तो उसके मदमें आकर स्वच्छंद प्रवर्तना अच्छा नहीं है। क्योंकि अभिमानीके सब लोग निष्कारण ही शत्रु बनजाते हैं, जिसमें फिर अभिमानी अधिकारीका तो कहना ही क्या है ? कारण उसका सम्बन्ध बहुतोंसे रहता है और जिस जिससे सम्बंध रहता है वे सभी उसके अभिमानसे पीड़ित (दुःखी) रहते हैं । और अवसर देखते रहते हैं कि कब इससे प्रबल पुरुषका समागम मिलाकर इसका मानभंग करावें और बदला लेवें इत्यादि ।

यहांतक कि कभी कभी वहुतसे मनुष्य अपने अधिकारियोंसे अप्रसन्न हो विपक्ष दलमें मिलकर अपनी २ मनोकामनाएं सिद्ध करते हैं । विभीषणहीको देखो, कि जब रावणने उसका अपमान किया, तो वह चार अक्षौहिणी सेना सहित आकर रामचन्द्रसे मिल गया और अपने भाईको मरवा डाला । इसीसे यह कहावत चरितार्थ हुई, कि "घरका भेदी लंका दाह !"

फिर भी यह ऐश्वर्य सदा नहीं रहेगा, वल क्षीण होते ही क्षीण हो जायगा, तब जिन्हें तुम तुच्छ समझते थे, ऐश्वर्याभिमानी हुए दूसरोंके सुख दुःख हानि लाभको नहीं देखते थे, तथा मनमानी आज्ञा चलाते थे सो वे ही मनुष्य तुमको अधिकार-भ्रष्ट देखकर प्रसन्न होवेंगे, तुमसे घृणा करेंगे और भरसक तुम्हारा अपमान और निंदा करनेमें कसर न करेंगे । देखो, रावणको मरे हजारों वर्ष होगये हैं तब भी प्रातःकाल कोई उसका नामतक नहीं लेता । इसलिये ऐश्वर्याभिमान करना भी वृथा है । कहा है—

"दिन दश आदर पायके, करले आप बखान ।
जबलग काक श्राद्ध पक्ष, तबलग तुझ सन्मान ॥"

तात्पर्य—ऐश्वर्य सदा स्थिर नहीं रहता है । वह भी वल और बुद्धि तथा द्रव्यके आश्रित है, इसलिये उसका अभिमान करना भी व्यर्थ है ।

यदि कुल (पितापक्ष) वा जाति (मातापक्ष) का अभिमान करते हो तो भी भूल है, क्योंकि कुल व जाति पूर्व कर्मसे प्राप्त हुए हैं । यदि ऐसा मानों तो वर्तमानमें तुम्हारा इसमें पुरुषार्थ ही क्या है,

जो इनका मान करते हो ? यदि मान करोगे और दूसरोंको तुच्छ गिनोगे, तो नीचगोत्र कर्मका आश्रव करके नीच कुलमें चले जाओगे। तब फिर उच्चपणा कहां रहेगा जैसा कि श्रीमदुमास्वामीने कहा है—

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।

अर्थात्—पराई निंदा और आत्म-प्रशंसा करने तथा अन्यके गुणोंको आच्छादन करने व अवगुणोंको प्रगट करनेसे नीचगोत्र कर्मका आस्रव होता है।

और यदि पुरुषार्थ (उच्च आचार विचार रखने) से कुल व जाति उच्च होती है, ऐसा मानते हो, तो फिर हरकोई अपने उच्च आचार विचारोंसे उच्च बन सकता है। तब मैं ही उच्च हूं ऐसा मान करना व्यर्थ है और एक बात यह भी है कि उच्च कुल जाति-धारी महान् पुरुष कभी अपने आपको उच्च उच्च कहकर हलके नहीं बनते हैं। जैसा कहा है—

"बड़े बड़ाई ना करे, बड़े न बोले बोल।
हीरा मुँहसे ना कहे, बड़ा हमारा मोल॥"

लोकमें स्वप्रशंसा करनेवाला मनुष्य नीचातिनीच समझा जाता है और यह ठीक भी है क्योंकि नीच उच्चपना तो मनुष्योंके आचरण व विचारोंसे अपने आप ही प्रगट होजाता है।

मानलो, कोई मनुष्य ब्राह्मण या क्षत्रिय, वैश्यके घरमें उत्पन्न होकर हिंसा करें, झूठ बोले, चोरी करे, व्यभिचार करे, न्यायान्याय रहित हुआ यथातथा भोगादि पदार्थोंके बढ़ानेमें तृष्णावान् रहे, मद्य मांस भक्षण करे, जुआ खेले, इत्यादि और भी कुत्सित कार्य करे,

अथवा ऐसे ही हीनाचारी, व्यसनी, पापी लोगोंका संग करे, तो क्या फिर भी वह उच्च गोत्री रह सकता है ? नहीं कभीं नहीं, कभी नहीं। वह नीच, शूद्रोंसे भी महा नीच होजाता है ।

और यदि कोई शूद्र, हिंसादि पाप नहीं करता है, झूठ चोरी व्यभिचार आदि पाप व दुर्व्यसन नहीं सेवन करता है, न्यायानुकूल योग्य आजीविका करके संतुष्ट रहता है, मद्यमांसादि निंद्य अभक्ष्य पदार्थ नहीं खाता है, सदा भले मनुष्योंकी संगतिमें रहता हैं, तो क्या वह नीच ही कहा जासकता है ? नहीं, कदापि नहीं। संसारमें जीव मात्रको अपनी उन्नति करनेका स्वाभाविक अधिकार प्राप्त है। उच्च नीचपणा किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं है। जीव स्वकृत कर्मसे उच्च नीच होसकता है, इसलिये उच्च बननेके लिये उच्चाचरण व उच्च विचार बनाना आवश्यक है, किंतु गर्व करना व्यर्थ है ।

अब यदि धनका मद करते हो, तो प्रत्यक्ष देखते हुए भी अंधेके समान हो, क्योंकि तुम जानते हो कि यह लक्ष्मी अति चंचल स्वभाव है। पुण्यकी दासी है। इसे पुरुषविशेषसे प्रेम नहीं है। जैसे वेश्या धनवालेसे प्रेम करके जहांतक उसके पास धन रहता है, दिखाऊ प्रीति बताते हुए संपूर्ण धन हरणकर अपने उसी प्रेमीको छोड़ देती है, वैसे ही लक्ष्मी पुण्य क्षीण होनेपर पुरुषको छोड़ जाती है। वह नीच, उच्च, मूर्ख, विद्वान्, कुरूप, सुरूप, सबल, निर्बल, किसीपर दया नहीं करती, न प्रेम ही रखती है। वह तो केवल पुण्यवानसे ही प्रेम रखती हैं, जैसे कि वेश्या धनवालेसे। देखो ! किसी समय एक पुरुषने अपनी स्त्रीको लक्ष्मी कहके संबोधन किया था, उसपर

उस स्त्रीने दुःखित होकर अपने पतिसे निम्न प्रकार प्रश्न किया और जिससे वह पुरुष लज्जित होकर निरुत्तर होगया था। वह पूछती है—

जाऊँ कहूँ न रहूँ घरमें, सहूं दुःखरु सौख्य सबहि कठिनाई।
नीचन ऊँचनके वह (लक्ष्मी) जात है. आवत जात न नेक लजाई॥
मेरे हू देखत गई कितके घर मैं न दियो पग पौर पराई।
कारण क्या कुश लेश पिया, जाते मुहि सिन्धुसुता (लक्ष्मी) ठहराई॥

तात्पर्य—ऐसी चंचल लक्ष्मीका मान करना व्यर्थ है।

यदि अपने तप, व्रत, संयम आदिका मान करते हो, तो तुम्हारे जैसा मूर्ख संसारमें और कोई भी नहीं है, क्योंकि तुम आत्मकल्याणके कारण तपको बढ़ाई पानेकी तुच्छ इच्छासे नष्ट कर देते हो अर्थात् जिस जप, व्रत, तप, संयमसे स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होता उसे केवल मान बड़ाईमें ही बेच देते हो और जब निरंतर तुम्हें अपने तप संयमके मानका ही ध्यान बना रहता है तब तुम तप संयम व आत्मध्यान कब करते हो या करोगे? जब तप ही नहीं करते हो तो केवल कपट भेष बनाकर लोगोंको और अपनी आत्माको ठगते हो। ऐसा तप करना व्यर्थ है, जिसमें मान पुष्ट किया जाय। क्योंकि तप तो इच्छाओंके रोकनेको कहते हैं जैसा कि कहा है—"इच्छानिरोधस्तपः" और तुम तो निरंतर मान पानेकी इच्छामें ही मग्न रहते हो इसलिये तपका मद करना भी व्यर्थ है। इसप्रकार विचार कर उत्तम पुरुष मान कषायको छोड़कर अपना स्वाभाविक मार्दव गुण प्रगट करते हैं।

इस मार्दव गुणसे आत्मीक—स्वाभाविक सुख तो मिलता ही है, किन्तु लौकिक सुख भी मिलता है। प्रकटमें नम्र—विनयीका कोई

शत्रु नहीं, और मानीका कोई मित्र नहीं होता है। देखो, आंधीके झकोरोंसे बड़े बड़े मोटे और कठोर वृक्ष मूल सहित उखड़ जाते हैं परन्तु नम्र होनेसे पतला भी बैंतका वृक्ष आंधीसे कभी नहीं उखड़ता किन्तु वह अपने विनय गुणसे वैसा ही बना रहता है। कहा है—

कोई न मीत कठोरको, मृदुको कोई न अरात् ।

इसलिये अन्तरङ्ग मान कषायको त्याग करना और व्यवहारसे अपनेसे कुल, वय, पद, विद्या, गुण, चातुर्य, तप, ज्ञान, चारित्र आदिमें जो बड़े हैं उनका यथायोग्य विनय सुश्रूषा (सत्कार) करना तथा छोटोंमें दया प्रेम व नम्रता रखना, और अविनयी व विरोधी पुरुषोंमें माध्यस्थभाव रखना, यही मार्दव गुण है। कभी अपने मुंहसे स्वप्रशंसा नहीं करना और न कभी परनिंदारूप निंद्य वाक्य कहना यही विनयका लक्षण है। अपनेसे बड़ोंको नमस्कार करना, उच्चासन देना, समक्ष होकर नहीं बोलना, उनकी आज्ञा मन, वचन, कायसे यथाशक्ति पालन करना, वे चलें तो उनके पीछे पीछे चलना, उनके गुणोंकी प्रशंसा करना, उनके उत्तम गुणोंका अनुकरण करना, उनके द्वारा अपने ऊपर हुए उपकारको नहीं भूलना, इत्यादि विनय है। प्रसंगवश यह भी लिख देना उचित है कि किसका किसके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये ? यथा—

नमोऽस्तु गुरवे कुर्याद्वंदना ब्रह्मचारिणे ।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्थिकादिषु ॥ १ ॥
श्राद्धाः परस्परं कुर्युः इच्छाकारं स्वभावतः ।
जुहारुरिति लोकेस्मिन्नमस्कारं स्वसज्जनः ॥ २ ॥

योग्यायोग्यनरं दृष्ट्वा कुर्वीत विनयादिकं ।
विद्यातपोगुणैः श्रेष्ठो लघुश्चापि गुरुर्मतः ॥ ३ ॥
श्रावकानां मुनींद्रो हि धर्मवृद्धिं ददत्यहो ।
अन्येषां प्रकृतानां च धर्मलाभ मतः परं ॥ ४ ॥
आर्यिका तद्वदेवात्र पुण्यवृद्धिं च वर्णिनः ।
दर्शनविशुद्धिं प्रायः क्वचिदेतन्मतान्तरम् ॥ ५ ॥

अर्थात्—दिगम्बर निर्ग्रन्थ साधुओंको अष्टांग नमस्कार और आर्यिका तथा ब्रह्मचारीजनोंको दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर शिरोनति करता हुआ वंदना करे। तथा साधर्मी, साधर्मी परस्पर इच्छामि (इच्छाकार) करें। श्रावकजन भी परस्पर जुहारु करें अथवा अपनेसे बड़ोंको प्रणामादि करें और छोटोंको आशीर्वाद देवें। इस प्रकार यथायोग्य व्यवहार करें। मुनि तथा आर्यिकाजी श्रावकोंको धर्मवृद्धि और अजैन (श्रावकेतर) जनोंको धर्मलाभ कहें। इसी प्रकार ब्रह्मचारी श्रावकोंको पुण्यवृद्धि अथवा दर्शनविशुद्धि और जैनेतर जनोंको पापं क्षयोऽस्तु आदि कहकर आशीर्वाद देवें। यही शिष्टाचार व्यवहार है। इसलिये सब मदोंको छोड़ स्वाभाविक और उभय लौकिक सुख देनेवाले ऐसे उत्तम मार्दव धर्मको धारण करना चाहिये इसीमें हित है। सो ही कहा है—

मान महा विषरूप, करे नीच गति जगतमें।
कोमल सुधा अनूप, सुख पावे प्राणी सदा ॥ १ ॥
उत्तममार्दव गुण मणि माना, मान करनका कौन ठिकाना।
बसो निगोद माहिसे आया, दमरी रूंकन भाग विकाया॥

रूंकन विकाया कर्मवशतें, देव इक इन्द्री भया ।
उत्तम मुवा चण्डाल हुवा, भूप कीड़ेमें गया ॥
जीतव्य योवन धन गुमान, कहा करे जल बुदबुदा ।
कर विनय बहुश्रुत बड़े जनकी, ज्ञानको पावे बुधा ॥ २ ॥

उत्तम आर्जव ।

जो चिंतेइ ण वंकं कुणादि ण वंकं ण जपए वंकं ।
ण य गोवदि णियदोसं अजव धम्मो हवे तस्स ॥

अर्थात्—जो न तो वक्र (कुटिलता मायाचाररूप) चिंतवन करता है, न वक्र कार्य करता है और न वक्रता लिये वचन ही बोलता है, तथा अपने दोषोंको नहीं छिपाता है, उसीके उत्तम आर्जव धर्म कहा जाता है । तात्पर्य—मन, वचन, काय और वचनोंमें जिसके सरलता हो अर्थात् जो मनमें हो वही करे और वही कहे तथा अपने दोषोंको न छिपाकर स्वीकार करे, वही आर्जवधर्मधारी महापुरुष कहा जाता है और उसके दोष दूर होकर वह शीघ्र ही एक पवित्रात्मा होजाता है। सो ही आगे आर्जव धर्मका भाव कहते हैं । यथा— (स्वा० का० अ०)

ऋजोर्भावः इति आर्जवः अर्थात्—सरल भावको आर्जव भाव कहते हैं । उत्तम विशेषण है, अर्थात् जिन भावोंमें किञ्चित् भी छल-कपट, दिखावट, बनावट व मायाचारी न हो वे ही भाव आर्जव भाव कहाते हैं । ये भाव आत्माके निजस्वभाव ही हैं जो कि माया कषायके क्षय व उपशम होनेसे प्रकट होते हैं ।

जिस समय जीवके मन, वचन और काय ये तीनों योग वक्रता--मायाचार रहित सरल होते हैं, अर्थात् जो कुछ मनमें विचार हो उसे ही वचनसे प्रकाश करना और वचनसे जो कुछ प्रकाश किया हो, वही कायसे करना इसीको आर्जव नाम आत्माका स्वभाव कहते हैं।

किन्तु जिस समय यह जीव निज आत्मबुद्धि अर्थात् अपने आत्मामें ही आत्म भावनासे रहित हुआ, आत्मबुद्धि परपदार्थोंमें स्वात्म भाव धारण कर प्रवर्तता है, तभी यह अपने इच्छित मनोनुकूल विषयों वा कषायोंकी पुष्ट्यर्थ नाना प्रकारकी कुचेष्टाएं करता है। अर्थात् मनमें कुछ और विचारता है, वचनसे कुछ और प्रगट करता है तथा कायसे कुछ अन्य ही आचरण करता है। तब इसके अंतरंग भावोंका भेद, सिवाय केवलज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानीके और कोई भी नहीं जान सकता। इसे ही अर्थात् ऐसे ही भावोंको माया कषाय कहते हैं।

यद्यपि मायाचारी पुरुष प्रायः ऊपरसे मिष्ट भाषण करता है, सौम्य आकृति बनाता है, अपने आचरणोंसे लोगोंको विश्वास उत्पन्न कराता है और अपने प्रयोजन साधनार्थ विपक्षीकी भी हाँमें हाँ भी मिला देता है परन्तु अवसर पाते ही वह अपने मन जैसी कर लेता है।

इसका स्वभाव ठीक बगुलेके सरीखा होता है--अर्थात् जैसे बगुला पानीमें एक पाँवमें खड़ा होकर नासादृष्टि लगाता है और मछली ज्यों ही उसके पास उसे साधु समझकर आती है त्यों ही वह छद्मभेषी झटसे उन्हें पकड़ कर भक्षण कर लेता है। कहावत है कि--

उज्वल वर्ण गरीब्र गति, एक टांग मुख ध्यान।
देखत लागत भगतवत्, निपट कपटकी खान॥ १॥

मायाचारी कभी सत्य तो बोलता ही नहीं है और यदि क्वचित् कदाचित् वह कुछ सत्य भी कहे, तो भी उसका कहना असत्य ही समझना चाहिये और कदापि उसका विश्वास नहीं करना चाहिये और प्रायः कोई करते भी नहीं हैं।

यद्यपि वह अपने दोषोंको पूर्णरूपसे ढंकता है तो भी उसका कपटभेष अंतमें प्रकट हो ही जाता है और कपटभेष प्रगट होते ही फिर कोई उसका विश्वास नहीं करते हैं।

यद्यपि कुछ समय तक लोग विना जाने उसके पञ्जेमें भले ही फँसे रहें और वह भी अपने आपको कृतकृत्य समझले, पर जैसे कि मिट्टीसे अच्छादित तूँबीसे पानीके भीतर मिट्टी गलकर छूटते ही ऊपर आ जाती है, वैसे ही कपट भेष भी वहुत समय तक नहीं छिप सकता।

मायाचारीका विश्वास लोकमेंसे उठ जानेपर उसका समस्त व्यवहार वंद होजाता है, जिससे उसे अत्यन्त दुःखी होना पड़ता है।

मायाचारी मनुष्यको कभी भी शांति नहीं मिलती, वह सदा ही उधेड़वुनमें लगा रहता है। किसीका वुरा करना, किसीको लड़ाना, किसीकी चुगली खाना, किसीका अपमान व पराजय कराना इत्यादि। तात्पर्य—उसे कभी सुख—नींद नहीं आती। वह निरंतर चिन्ताग्रस्त रहता है और चिन्तावानको सुख कहाँ ?

मायाचारी आप तो दुःखी रहता ही है किन्तु अन्यको दुःखी करनेमें भी हर्ष मानता है। वास्तवमें ऐसे लोग शत्रुसे भी भयंकर होते हैं क्योंकि शत्रु तो प्रगट रूपसे धावा करके मारता है, इसलिये उससे तो हम सदा शंकित अर्थात् सावधान रहनेके कारण किसी

प्रकारसे भी अपनी रक्षा कर सकते हैं परन्तु इन मीठे बोलनेवाले अस्तीनके सांपों सरीखे मायाचारियोंसे बचना तो बहुत कठिन तो क्या असंभवसा ही है। कहा है—

'अरकसिया (करोंत) के मुख नहीं, नहीं गौंचके दंत।
जे नर धीरे बोलते, इनसे बचिये संत" ॥ १ ॥

क्योंकि ये लोग सदा मीठी मीठी बातोंमें अन्तरंगका हाल जानकर बाहिर प्रगट कर देते हैं। ये कभी किसीसे मित्रता तो करते ही नहीं है। ये लोग तो जहां अपना मतलब होते देखते हैं कि झटसे वहीं जा मिलते हैं। इनके वचनकी स्थिरता तो होती ही नहीं है। झूठ बोलनेका तो इनका स्वभाव ही पड़ जाता है अथवा झूठ बोलनेमें ये पाप ही नही समझते हैं, इसलिये सदा ऐसे लोगोंसे बचते रहना ही ठीक है।

ये लोग अपने प्रयोजन साधनार्थ व कौतुकवश दूसरोंको घात पहुँचानेकी चेष्टा करते रहते हैं, परन्तु औरोंका घात तो उनके पूर्वकृत कर्मानुसार होवे अथवा नहीं भी हो, किन्तु मायाचारीका घात उसके परिणामोंसे तो सदा हुआ ही करता है। जैसे दर्पणमें मुंह देखनेपर जैसा टेढ़ा सीधा करके देखो वैसा ही दिखने लगता है; ठीक, यही हाल मायाचारियोंका होता हैं। जो औरोंके लिये कुआ खोदते हैं, उसमें वे आप ही अनायास गिर जाते हैं। कहा है—"जो कोई कूप खंने औरनको, ताको खाई तयार।" सत्य है ओसका मोती कब-तक स्थिर रहता है ?

एक समय एक कौआ मोरोंके पंख पहिन कर अपने आपको

मोर प्रकट करता हुआ स्वजातीय कौओंके पास जा उन्हें भला बुरा कहने लगा । वे वेचारे इसकी मूर्खतापर चुप होरहे और अपने संघसे उसे त्याग कर दिया । पश्चात् वह मोरोंके झुंडमें जाके अकड़ कर फिरने लगा, इससे मोरोंने भी इसे तुरत छद्मभेषी काग समझकर खूब ही चोंचोंसे इसकी खबर ली । और सब नकली पर नोंच डाले । तब वह मारसे व्याकुल हुआ, पीछे स्वजातियोंके पास आया और पूर्ववत् उनमें मिलना चाहा परन्तु उन्होंने भी इसकी मोरोंके समान खूब खबर ली और बाहर निकाल दिया । तब वेचारा महा दुःखी हो जन्म पर्यंत जातिच्युत हुआ अकेला ही वनमें मृत्युकी प्रतीक्षा करता करता मर गया ।

तात्पर्य—कपट-जाल कभी न कभी टूटता ही है और उसके टूटनेपर कपटीकी बहुत ही दुर्दशा होती है ।

सो जब इसी लोकमें कपटी मारन ताड़नादि अनेक वेदनाएँ सहता है तो परभवका कहना ही क्या है ? भगवान् उमास्वामीने कहा है—**'माया तैर्यग्योनस्य'** अर्थात् मायाभावोंसे तिर्यञ्चगतिका आस्रव और बंध होता है । इससे वहाँ पर यह जीव अनेक प्रकार छेदन, भेदन, बध, बंधन, भूख प्यास आदि दुःख भोगता है । तथा शीत, उष्ण, छेदन, भेदन, डंस, मच्छर, भार—वहन, मारन, ताड़नादि और भी अनेकों दुःख सहता है ।

यदि यह सबल हुआ तो औरोंको मारकर खाने लगा और कभी शिकारियों द्वारा आप भी मारा गया । यदि यह निर्बल हुआ तो दूसरे जीव इसे मारकर खा गये । यदि पालतू पशुओंमें हुआ तो सवारीमें

जोता गया, युद्धमें प्रेरा गया, नाक, मुँह, जिह्वा, लिंगादि छेदन किये गये, भार लादा गया, शक्तिहीन होनेपर कषायीके हाथ बेचा गया, देवी देवताओंकी बलि दिया गया, यज्ञमें होमा गया, यह तो पञ्चेन्द्री समनस्ककी कथा हुई तब चौ-इन्द्री, तीन-इन्द्री, दो-इन्द्री, एक-इन्द्रीका तो कहना ही क्या है ? जहाँ बड़े बड़े उपकारी जीवों ही की दया नहीं देखी जाती, वहां दीन क्षुद्र जीवोंकी तो कौन रक्षा करता है ? हाय! ऐसे पशुगतिके दुःख मायाचारीको भोगने पड़ते हैं ?

ये ही मायाभाव जीवको अनन्त संसारमें भ्रमण कराते हैं, इसलिये ये कुभाव सदैव त्यागने योग्य हैं। उत्तम पुरुष ऐसे कुभावोंको त्याग कर स्वभावों—आर्जव भावोंको प्रगट करते हैं और मन, वचन, कायकी सरलता करके अनादि कर्म बन्धनको काटकर अविनाशी सुखोंको प्राप्त होते हैं। इसलिये उत्तम पुरुषोंको सदा स्वपर हितकारी उत्तम आर्जव धर्मको धारण करना चाहिये। सो ही कहा है—

कपट न कीजे कोय, चोरनके पुर नहिं बसे।
सरल स्वभावी होय, ताके घर बहु सम्पदा ॥
उत्तम आर्जव रीति वखानी, रंचक दगा बहुत दुखदानी।
मनमें होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तनसे करिये॥
करिये सरल तिहुंयोग अपने, देख निर्मल आरसी।
मुख करे जैसा लखे तैसा, कपट प्रीति अंगारसी॥
नहि लहे लक्ष्मी अधिक छल कर, कर्मबंध विशेषता।
भय त्याग दूध विलाव पीवे, आपदा नहिं देखता॥ ३ ॥

उत्तम सत्य।

जिणवयणमेव भासदितं पालेदुं असक्क माणो वि।
ववहारेण वि अलियं ण वददि जो सच्चवाई सो ॥

अर्थात्—जो सदैव जिन सूत्रानुसार ही वचन बोलते हैं और यदि वे तीव्र कर्मके उदयसे कदाचित् उनके अनुसार चल भी नहीं सकते, तो भी कभी असत्य भाषण नहीं करते, न कभी व्यवहारमें (अथवा हास्य कौतुक छलकर भी) झूंठ बोलते हैं वे सत्यवादी कहे जाते हैं। ऐसे पुरुषोंके वचन सदैव स्वपर कल्याणके करनेवाले होते हैं। (स्वा० का० अ०) कहा भी है कि—

सते हितं यत् कथ्यते तत् सत्यम्=अर्थात् भलाईके लिये जो बोला जाय उसे ही सत्य कहते हैं और भलाई तब ही हो सकती है जब कि वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही—न्यूनाधिकता रहित कहा जाय, इसलिये यथार्थ बोलना ही सत्य बोलना हो सकता है। उत्तम शब्द गुणवाचक है। यह बताता है कि जिस कथनमें अपनी ओरसे कुछ भी न मिलाया जाय अर्थात् जैसाका तैसा ही कहा जाय वह सत्य है। अपनी ओरसे न्यूनाधिक तब ही किया जाता है, जब कि कुछ रागद्वेष हो, या विषय कषाय पुष्ट करना हो क्योंकि अपेक्षा रहित पुरुष किसलिये अपने निर्मल आत्माको बात बनानेकी व्यर्थकी उलझनमें डालकर दुःखी करेगा? अर्थात् नहीं करेगा।

तात्पर्य—यह है कि विषय, कषाय, रागद्वेषादि भाव आत्माके निजस्वभाव नहीं हैं, और झूठ बिना विषय तथा कषायभावोंके बोला

नहीं जाता, इससे यह निश्चित हुआ कि झूठ परभाव है। अर्थात् आत्माका स्वभाव नहीं है और जो आत्माका स्वभाव नहीं है वह धर्म भी नहीं होसकता। इसलिये जब आत्मासे रागद्वेषादि भाव अलग होते हैं—अर्थात् जैसा जैसा इनका क्षय, क्षयोपशम व उपशम होता है, वैसा वैसा ही आत्माका स्वभाव प्रगट होता है। स्वभावके प्रगट होनेपर ही जो वस्तु जैसी है, वैसी कही जा सकती है और उसीको सत्य कहते हैं।

इसलिये जीवमात्रका कर्तव्य है कि वे सत्य बोलें। क्योंकि व्यवहार कार्य भी सत्यके विना नहीं चल सकता। लोकमें भी जिसके वचनकी प्रतीति नहीं होती है, वह निंद्य समझा जाता है। लोग उससे घृणा करते हैं, उसका कभी कोई विश्वास नहीं करता जिससे उसका सब व्यवहार अटक जाता है, आजीविका नष्ट होजाती है। और कोई भी उसकी विपत्तिमें सहायक नहीं होता है। कहा है—

"मिथ्याभाषी सांच हूं, कहे न माने कोय।
भांड़ पुकारे पीर वश, मिस समझे सब कोय॥"

झूठ बोलनेके कई कारण हैं। कोई भयसे बोलता है तो कोई लोभसे बोलता है, कोई मोहसे बोलता है, तो कोई वैरवश बोलता है। कोई आशावश तो कोई क्रोधवश। कोई मानवश, कोई लज्जावश। कोई कौतुकसे, कोई केवल मनोरंजनके ही लिये बोलता है। इत्यादि ऐसे ही अनेक कारणोंसे लोकमें प्राय: झूठका ही व्यवहार होता है।

यद्यपि बोलते समय बोलनेवालेको थोड़ा आनंदसा प्रतीत होता है अथवा झूठ प्रगट होनेतक लोगोंमें इसकी सत्यवन्तवत् प्रतीति

होनेसे कथंचित् उसके विषय और कषायोंकी पुष्टि भी होजाती है, तौभी प्रगट होने अर्थात् भेद खुल जानेपर सब पोल खुल जाती है और फिर उसकी एकबार भी झूठ पकड़ जानेपर सदाके लिये उससे विश्वास उठ जाता है।

कितनेक लोग कहते हैं कि झूठ विना व्यवहार नहीं चल सकता है, परन्तु यह कल्पना उनकी झूठी है। कारण, यदि झूठ विना व्यवहार न चलता, तो सत्यकी आवश्यकता ही संसारमें न रहती। यहांतक कि लोग सत्यका नाम भी भूल जाते, परन्तु देखा जाता है कि जो लोग झूठ बोलते हैं, या अपनी झूठी बातोंका प्रचार करना चाहते हैं, या झूठसे द्रव्योपार्जन करना चाहते हैं, या मानादि कषायोंको पुष्ट करना चाहते हैं या मनोरंजन व हास्यादिक करना चाहते हैं, वे भी तो लोगोंमें अपने झूठको सत्यरूपसे ही प्रगट करके लोगोंका विश्वास अपने ऊपर खींचते हैं और तब सत्यकी ओटमें होकर ही अपने इच्छित विषयकी पूर्ति करते हैं।

क्योंकि यदि पहिलेसे ही लोगोंको यह प्रगट होजाय कि यह पुरुष झूठ बोलता है, तो फिर भला उसके जालमें फंसे ही कौन? क्या कोई संसारमें ऐसा भी मनुष्य है कि जो आँखसे देखता हुआ और जानता हुआ भी अर्थात् अपने हाथमें दीपक लिये हुवे उसका प्रकाश रहते भी कुएमें गिर जाय? और मान लो कि कदाचित् कोई भूलसे किसी प्रकार गिर भी जाय, तो क्या वह लोकमें चतुर कहा जा सकता है? और क्या वह सुखी हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। तात्पर्य–जो झूठ भी संसारमें चल जाता है और उससे जो

कुछ भी लोगोंको लाभ या स्वार्थ साधन होजाता है, वह सब सत्य हीकी ओटमें होता है।

देखो, ठग लोग भी पहिले उत्तमसे उत्तम वस्तुका नमूना दिखाते हैं और पीछेसे कम दामकी मिलाकर माप तौल देते हैं। यदि खरीददारको पहिलेसे ही यह विदित होजाय, तो वह ले ही नहीं और कदाचित् आवश्यकतानुसार लेनेको लाचार हो, तो उतने दाम न दे, और यदि दाम भी दे तो जितना लेना चाहता था उससे कितने ही अंशोंमें कम लेवे। तात्पर्य–भेद खुलनेसे फिर उसकी बिक्री ठीक २ नहीं होगी।

प्रायः देखा जाता है कि ऐसे धूर्त अधिकतर देशपर्य्यटन ही किया करते हैं, अर्थात् वे स्थिर होकर कहीं एक जगह दुकान नहीं खोल सकते, क्योंकि स्थिर कारखाने तो विश्वासपात्र पुरुषोंके ही चल सकते हैं, धूर्तोंके नहीं, इसीलिये वे हरजगहसे अपनी पोल खुलनेके पहिले ही नौ दो ग्यारह होजाते हैं, अर्थात् अन्यत्र चल देते हैं, कारण कि प्रगट होनेपर राजदंड मिलनेकी तो पूरी पूरी संभावना है। वे सदैव शंकित रहते हैं कि कहीं कोई मेरी पोल न खोलदे। और जो शंकित रहे, वह सुखी कैसा ?

तात्पर्य–झूठा सदा ही दुःखी रहता है, इसलिये सुखी होनेके लिये सदा सत्य बोलना चाहिये।

संसारमें भी झूठ बोलनेवालेको जिह्वाछेदन, ताड़न, मारन, फांसी, देशनिकाला और कारागार, आदि नाना प्रकारके दंड होते हैं।

और इसके विपरीत सत्यवादीका ठौर २ आदर होता है।

तथा सब उसकी प्रतीति करते और चाहते हैं। देखो, महाराज रामचन्द्रजी और महाराज धर्मराजजी आदिके वचनोंका प्रभाव शत्रुपक्षपर भी पड़ता था। महाराज हरिश्चंद्र तथा राजा बलि आदिका नाम उनके सत्यवादी होने हीसे लोकमें अमर होगया। महाराज दशरथ, रतिपति वसुदेव अपने वचनों हीसे लोकमें चिरस्मरणीय हुए हैं। आजकल भी एक वचन हीकी प्रतीतिपर हुंडी पुरजादि द्वारा लाखों करोड़ों रुपयोंका व्यवहार चलता है। तात्पर्य—जहांतक लोकमें प्रतीति है वहांतक ही सब कुछ है और दिवाला निकलनेपर अर्थात् बात विगड़ जानेपर मुँह काला होजाता है। राजा वसु झूठके कारण ही तीसरे नरकमें गया और कौरव, लोकमें निंद्य कहाये।

ध्यान रहे कि थोड़ासा भी झूठ कभी २ प्राण तकका घात कर डालता है। एक कथा है कि किसी एक स्थानमें कोई सेठ था, उसने एक नौकर रक्खा। उस नौकरने सेठसे यह वचन लेलिया था कि सालभर आपका काम तनमनसे सच्चा करूंगा, परन्तु वर्षमें एक दिन केवल एक ही बार झूठ बोलूँगा। सेठजीने यह स्वीकारकर लिया, यह सोचकर कि एकबार झूठ बोलनेमें क्या होगा? सालभर तो अच्छा कार्य कर सकेगा। निदान नौकरने सालभरतक कठिन परिश्रमद्वारा सेठजीको बहुत प्रसन्न किया और सालके अन्तमें सेठसे बोला कि—"मैं कल झूठ बोलूंगा।" सेठने यह सुनकर भी इस बातको उपेक्षाभावसे भुला दिया।

बस, नौकरने दूसरे दिन सवेरे सेठानीसे कह दिया कि "सेठ व्यभिचारी हैं और वे नित्य अमुक वेश्याके यहां जाते हैं इसलिये

आज रातको तुम उस्तरासे सोते समय सेठजीकी एक ओरकी दाढ़ी व मूछ मुण्ड देना। इससे जब वे वहां जावेंगे और जब वेश्या उन्हें पहिचानेगी नहीं, तब पीछे आयंगे और उनका सब भेद खुल जायगा, सब हंसीका अवसर होगा और सेठजी यह निंद्यकर्म छोड़ देंगे।"

सेठानीके सहमत होनेपर वह सेठजीके पास गया और बोला—"स्वामिन्! मैं आपका सेवक हूं, इसलिये सबप्रकार आपकी भलाईमें रहना मेरा कर्तव्य है। आपके प्राण अपने प्राणोंसे भी प्रिय जानता हूँ, इसलिये निवेदन करता हूं कि आज रात्रिको आप सचेत रहें, क्योंकि प्राणोंका भय है।"

सेठने पूछा—"तुझे कैसे मालूम हुआ?" तब वह नौकर बोला—"स्वामिन्! सेठानीजी नित्यप्रति रात्रिको चुपकेसे किसी पुरुषको घर बुलाती हैं सो आजतक मैंने यह बात भय तथा लज्जावश आपसे छिपा रक्खी थी, परन्तु जब आज आपके प्राणोंपर ही चोट आन पहुंची तब कहना ही पड़ा कि आज सेठानी अपने प्रेमीके आदेशानुसार उस्तरेसे सोते समय आपका गला काटनेवाली हैं और इसलिये वे पहिले परीक्षाके लिये आपकी दाढ़ी और मुंछें खूब पानीसे तर करेंगी। जब आपको अचेत सोया जानेंगी, झटसे उस्तरा निकालकर तमाम काम कर देंगी" इसलिये आप सावधान रहें।

सेठ तो नौकरके झूठ बोलनेकी बातको भूल ही चुके थे, इसलिये उसकी बात पर विश्वास करके सचिंत्य होगये और जब रात्रि हुई तो बगलमें नंगी तलवार छुपाकर पलंगपर पड़ रहे। इधर सेठानी भी अपना उस्तरा और पानी रखपड़ रहीं। निदान मध्यरात्रिका

समय हुआ तो सेठानीने सेठकी दाढ़ी भिजाकर ज्यों ही उनकी दाढ़ी मूछ मूंडनेको छुरा निकाला कि सेठजी झटसे तलवार लेकर उठ बैठे और चोटी पकड़कर सेठानीको मारना ही चाहते थे, कि सेठानी चिल्लाई और उसके चिल्लानेसे फेरीवाला (गश्तवाला) सिपाही एकदम आगया और हल्ला मचा दिया। जब सवेरा हुआ और इस विषयकी खोज की गई, तो नौकरने सच बात कहदी जिससे सेठ सेठानी भ्रांतिरहित हुए अन्यथा सेठानीकी हत्या और सेठको सूली तो होती ही जिससे एक गृहस्थका नाम निःशेष होजाता।

इस घटनाके कारण नौकर सदाके लिये नौकरीसे अलग किया गया, और भी दूसरे लोग उससे हिचकने लगे। उसका सब कठिन परिश्रम व्यर्थ गया और इनाम यह मिली कि आजीविका नष्ट होगई फिर उसे किसीने नहीं रक्खा, बेचारा भूख, प्याससे पीड़ित हो भिक्षा मांगते मांगते मर गया। तात्पर्य—एकबारके झूठसे जब यहांतक नौबत पहुंची तो जो निरंतर झूठ बोलें उसका कहना ही क्या है?

इसलिये झूठ उभयपक्षमें हानिकर समझकर छोड़ देना ही हितकारी है। और भी देखो, कि यदि घरका पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन आदि कोई भी झूठा हो तो लोग उसका विश्वास न करके करोड़ोंकी सम्पत्ति गैरआदमी—(मुनीम, रोकड़िया, दिवान, भंडारी आदि) को सौंप देते हैं। यह सत्यहीका प्रभाव है। कहा भी है—

" सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय सांच है, ताके हृदय आप॥ "

इसलिये कदाचित् सच बोलनेमें प्रगटरूपसे कुछ आपत्ति भी

आवे, भय भी हो, तो भी अपने सत्यको नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि यह आपत्ति भी परीक्षाके लिये आती है। कहा भी है—

"धीरज धर्म मित्र अरु नारी।
आपत काल परखिये चारी॥"

वास्तवमें आपत्ति एक कसौटी है, इससे ही पुरुषोंके धैर्यादि धर्मोंकी दृढ़ताकी परीक्षा होती है। सोना जितनी वार आंच देकर तपाया जाता है या कसौटीपर कसा जाता है, उतनी ही उसकी कीमत बढ़ती है। ठीक, इसी प्रकार सत्यनिष्ठ पुरुषोंका भी हाल होता है। वे परीक्षा होनेसे जगत्पूज्य होजाते हैं और परीक्षामें फैल हो जानेसे वे फिर घूरेका कूरा (कचरा) होजाते हैं, इसलिये सदा दृढ़ सत्यव्रती बनना चाहिये।

देखो, एकेन्द्री, द्वीन्द्री, त्रीन्द्री और चतुरिन्द्री तथा असैनी पंचेंद्री आदि जीवोंके तो भाषावर्गणा (बोलनेकी शक्ति) ही नहीं होती और सैनी पंचेंद्री पशुओंके यद्यपि बोलनेकी शक्ति होती है तो भी वे साक्षर वचन कोई भाषात्मक शब्द नहीं बोल सकते और मनुष्योंमें भी बच्चे दो तीन वर्षतक तो गूँगे ही रहते हैं, और कई तो आजन्म तक भी गूँगे रहते हैं। इसलिये बड़ी कठिनतासे प्राप्त की हुई यह वाक्य-शक्ति मिथ्या भाषण करके ज्योंत्यों खो देना कितनी बड़ी भूल है?

किसी भी बातको विपर्यय कहना मात्र ही झूठ नहीं है, किंतु जिस वचनसे अपने आप व परको पीड़ा उपजे, या स्वपरका घात हो जावे यह सब ही झूठ है। निंदा करना, हास्य करना, परस्पर कलह

करना या करा देना, किसीकी गुप्त वार्ता प्रगट करना, खोटा लेख लिखना, राजाज्ञा भंग करना, शब्दोंका अर्थ बदल देना, हठवाद करना, पापीजनोंका पक्ष लेना और धर्मात्माओंसे विरोध करना आर्षप्रणीत सत् शास्त्रोंको दूषित व स्वार्थीजनों द्वारा संपादित बताना, स्वप्रशंसा करना, झूठी साक्षी भरना, भण्ड वचन बोलना, गाली देना, विषय और कषायोंमें फँसानेवाला उपदेश देना, शृङ्गाररसके ग्रंथ बनाना, न्यायविरुद्ध वचन बोलना, इत्यादि और भी अनेक प्रकारका झूठ होता है, जिससे मनुष्यमात्रको बचना चाहिये। सत् पुरुष योग्या-योग्य अवसर देखकर ही बहुत सोच समझकर वचन बोलते हैं अथवा झूठ बोलनेके बदले मौन ही धारण कर लेते हैं। क्योंकि जहांपर सत्य बोलने अर्थात् जैसाका वैसा कहनेमें भी सत्यको झूठ समझे जानेकी संभावना हो, या उससे अपने आप व परको अन्यायपूर्वक पीड़ा होजानेकी संभावना हो, वहांपर मौन ही रखना श्रेष्ठ समझा जाता है। इसलिये द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका विचार करके तदनुसार न्यायपूर्वक हितमित वचन बोलना सो ही सत्य वचन है।

इसलिये इस लौकिक और पारलौकिक दुःखोंसे निवृत्त होने व सुखकी प्राप्तिके लिये सत्य वचन ही ग्रहण करना योग्य है। सो ही कहा है—

कठिन वचन मत बोल, परनिंदा अरु झूठ तज।
सांच जवाहर खोल, सतवादी जगमें सुखी॥ १॥
उत्तम सत्य वरत पालीजे, पर विश्वासघात ना कीजे।
सांचे झूठे मानस देखे, आपन पूत स्वपास न पेखे॥ २॥

पेखे तिहायत पुरुष, सांचेको दरब सब दीजिये।
मुनिराज श्रावककी प्रतिष्ठा, सांच गुन लख लीजिये॥ ३॥
ऊंचे सिंहासन बैठी वसु, नृप धर्मका भूपति भया।
वसु झूठसेती नर्क पहुंचा, स्वर्गमें नारद गया॥ ४॥

"सत्यमेव सदा जयति"

उत्तम शौच।

सम संतोष जलेण य जो धोवदि तिण्ह लोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहिणो तस्सु सुचित्तं हवे विमलं॥

अर्थात्—जो समता अर्थात् संतोषरूपी जलसे तृष्णा (लोभ) रूपी महा मलको धोते हैं, यहांतक कि भोजनमें भी जिनको गृद्धता अर्थात् तीव्र लालसा (चाहना) नहीं होती, उसीके उत्तम शौच धर्म कहा जाता है। (स्वा० का० अ०) और भी कहते हैं—

शुचेर्भावः इति शौचः—अर्थात् भावोंकी शुद्धिका होना सो ही शुद्धता अर्थात् शौच है। उत्तम विशेषण है, जो कि किंचिन्मात्र भी मलीनताके अभावका सूचक है। वास्तवमें यह शौचधर्म आत्माका ही स्वभाव है कारण कि शौच धर्म अन्तरङ्ग आत्मासे लोभादि कषायोंके अलग हो जानेपर ही प्रगट होता है। लोभादि कषायें पर पदार्थोंकी चाह रूप प्राप्तिकी इच्छासे उत्पन्न होती हैं, इसलिये ये परभाव हैं। सो इन परभावोंके अभाव होनेपर जो आत्माका स्वभाव प्रगट होना सो निश्चय शौच धर्म है।

व्यवहार शौच, बाह्य शुद्धिको कहते हैं—अर्थात् देह, गेह, वसन, भूषण आदिकी शुद्धताको शौच कहते हैं, परन्तु अंतरंग शुद्धि विना यह बाह्य शुद्धि विशेष प्रयोजनीय नहीं होती। वह बाह्य शुद्धि तो केवल उस मद्यसे भरे हुए घड़ेके समान है कि जो बाहिरसे तो साफ सुथरा है परन्तु भीतर मद्यसे मलिन होरहा है। अर्थात् जिस घड़ेमें शराब भरी है, उस घड़ेको बाहिरसे खूब मलमलकर धोनेपर भी उसकी दुर्गंधि कभी दूर नहीं हो सक्ती।

इसी प्रकार यह शरीर जो रज (माताके रुधिर) और वीर्य (पिताके शुक्र) का पिंडरूप मल, मूत्र, रुधिर, पीव, मांस, मज्जा आदिका घृणित थैला है सो नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंसे धोनेपर भी कभी शुद्ध नही होता किंतु उल्टे इसके स्पर्शमात्रसे संपूर्ण शुद्ध व सुगन्धित पदार्थ भी दुर्गंधित व घृणित होजाते हैं। देखो, निरंतर इस शरीरसे आंख, नाक, कान, मुँह, गुदा, योनि, लिंग आदि द्वारोंमेंसे दुर्गंधित पदार्थ (मल) ही झड़ता रहता है। यह अपने संबंधसे केशर, कस्तूरी, कर्पूर आदि पदार्थोंको भी अल्पकालमें ही मलरूप कर डालता है। ऐसा दुर्गंधित घृणित महा-अपवित्र शरीर जलादिकसे धोनेपर कैसे पवित्र हो सकता है? कदापि नहीं, कदापि नहीं। यह सदा मैला है, क्योंकि यह स्वभावसे अपवित्र है।

इसलिये ऐसे मैले अपवित्र शरीरको धो पोंछ करके शुद्ध मान लेना नितान्त भूल है। इसलिये साधुजन, जिन्होंने अपने अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूप परम शुद्धात्माको इस शरीरसे सर्वथा भिन्न जानकर इसे छोड़ रक्खा है, वे इसकी कुछ भी अपेक्षा न करके अपने

अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुखमयी चैतन्य स्वरूप आत्मामें ही मग्न रहते हैं। वे इस घृणित शरीरके संस्कार करनेमें अपना समय व्यर्थ नहीं बिताते क्योंकि वे जानते हैं कि प्रथम तो यह शरीर अपवित्र है सो तो कदापि शुद्ध हो ही नहीं सकता जैसे कि कोयला दूधसे धोनेपर भी कभी सफेद नहीं होता। दूसरे यह आयु-कर्मके आधीन होनेसे अस्थिर है। तीसरे बुढ़ापा और रोगोंसे भरा हुवा तथा जड़ अर्थात् अचेतन है, अनेक प्रकारसे सुरक्षित रखनेपर भी सुरक्षित नहीं रह सकता और न कभी साथ ही देता है। किसी कविने कहा है—
(प्रश्नोत्तर, चेतन और कायका।)

चेतन—सोलह शृंगार विलेपन भूषणसे निशिवासर तोहि सम्हारे,
पुष्टि करी बहु भोजनपान दे धर्म अरु कर्म सबै ही विसारे।
सेये मिथ्यात्व अन्याय करे बहुते तुझ कारण जीव संहारे,
भक्ष गिनो न अभक्ष गिनों अब तो चल संग तू काय हमारे ॥१

काय—ये अनहोनी कहो क्या चेतन भांग खाय कै भये मतवारे,
संग गई न चलूं अब हूँ लखि ये तो स्वभाव अनादि हमारे।
इन्द्र नरेन्द्र धनेन्द्रनके नहिं संग गई तुम कौन विचारे,
कोटि उपाय करो तुम चेतन तो हू चलूँ नहिं संग तुम्हारे ॥२॥

तात्पर्य—जड़ और चेतन ये दोनों परस्पर विरोधी हैं, तब अनमेलका मेल कैसा ; ऐसा समझकर वे इसकी कुछ भी अपेक्षा न करके सोचते हैं—

यावन्न ग्रस्यते रोगैः यावन्नाभ्येति ते जरा।
यावन्न क्षीयते चायुस्तावत् कल्याणमाचर ॥

अर्थात्—जबतक रोगोंने नहीं घेरा है, बुढ़ापा नहीं आया है और आयु क्षीण नहीं हुई है, तबतक कल्याण कर लेना चाहिये। क्योंकि—

"सदा दौर दौरा जु रहता नहीं।
गया वक्त फिर हाथ आता नहीं ॥"

यही कारण है कि साधु आदिका शरीर यद्यपि ऊपरसे मलीन दिखता है, परन्तु उनका अन्तरंग आत्मा तो सदा शुद्ध ही होता है।

परन्तु सँसारी गृहस्थियोंका चरित्र इससे बिलकुल उल्टा है— अर्थात् वे केवल शारीरिक शुद्धिको ही शुद्धि मानते और गंगादि नदियोंमें नहाकर अपनेको कृत्यकृत्य मान बैठते हैं, परन्तु उनकी यह भूल है, यद्यपि शारीरिक अथवा बाह्य शुद्धि गृहस्थियोंको अत्यावश्यक है, सो वह तो उन्हें रखना ही चाहिये, क्योंकि देह, गेह, भोजनादि बाह्य शुद्धि विना प्रथम तो उनका व्यवहार मलीन होजाता है, उनके नाना प्रकारके रोम उत्पन्न होजाते हैं, चित्तकी प्रसन्नता नष्ट होजाती है, सदा आलस्य आया करता है और लोकनिंद्य भी होजाते हैं। इसके सिवाय बाह्य शुद्धि गृहस्थोंको अन्तरंग शुद्धिका भी कारण है, तो भी यह शुद्धि अन्तरंगकी शुद्धि विना विशेष लाभकारी नहीं होती। इसलिये बाह्य शुद्धिके साथ साथ अन्तरंग शुद्धिका होना आवश्यक है।

सबसे अधिक अन्तरंग मैलापन आत्मामें लोभसे होता है। देखो, यह (सूक्ष्म लोभ भी) उपशम श्रेणीवाले मुनियों तकको भी ग्यारहवें गुणस्थानसे गिराकर नीचे पटक देता है। कहा भी है कि:

"लोभ पापका बाप बखाना" अर्थात् लोभी पुरुष न करने योग्य भी सब कार्य करता है। वह हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि किसी पापसे भी नहीं डरता है तथा निरन्तर जिस तिस प्रकार तीन लोककी संपत्तिको अपनाना चाहता है, परन्तु विना पुण्यके क्या कुछ भी कभी पा सकता है? कभी नहीं। इसके सिवाय सोचो तो सही कि लोकमें तो संपत्ति जितनी है, उतनी ही है। और उतनी ही रहती रहेगी और प्रत्येक जीवको तृष्णा इतनी है कि कदाचित् उसे यह सब संपत्ति मिल जाय जैसा कि होना असंभव है तौ भी उसकी तृष्णाके असंख्यातवें अंशकी पूर्ति न हो, और जीव संसारमें अनंतानंत हैं, तब कैसे कहा जाय कि वह कभी भी उसका स्वामी होकर तृप्त हो सकेगा अर्थात् उसकी इच्छाकी पूर्ति होकर वह सुखी हो सकेगा? कभी नहीं, कभी नहीं।

इसलिये ऐसी लोभ तृष्णाको छोड़नेवाले परम वीतरागी पुरुष ही सुखी हुए वा हो सकते हैं और शेष संसारी जीव तो निरन्तर तृष्णाग्निमें जला ही करते हैं। इससे निश्चित है कि—जहांतक आशा तृष्णा वा चाह लगी रहती है, वहांतक जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। एक संतोषी पुरुष ही सदा सुखी रहता है। संतोषी ही उच्च और लोभी पुरुष संसारमें नीच समझा जाता है। जैसा कि कहा है—

"देव कहे सो नीच है, नहीं कहे महा नीच।
लेव कहे ऊँचा पुरुष, नहीं लेय महा ऊँ॥"

संसारमें मनुष्योंका तभीतक आदर रहता है, जबतक वे कुछ

किसीसे मांगते नहीं हैं और ज्यों ही उन्होंने किसीसे कुछ मांगा कि उसी समय वे लोगोंकी दृष्टिसे उतर जाते हैं । लोभी पुरुष चाहे जहां नीच उच्च सबके साम्हने, दीन होता है । लज्जा तो उससे कोसों दूर चली जाती है । वह शीत, उष्ण, भूख, प्यास, सब कुछ सहता है, स्त्री पुत्रोंसे विलग होजाता है, सब लोगोंका निष्कारण वैरी बन जाता है, देश विदेशोंमें भटकता रहता है, भक्षाभक्ष खाता है। वह न कभी पेटभर अनाज खाता है और न तनभर कपड़े पहिनता है, किन्तु निरंतर सम्पत्ति जोड़ता जोड़ता मर जाता है। वह आप तो खर्चना जानता ही नहीं, परन्तु औरोंको भी खर्चते देखकर घबरा जाता है। जैसा कहा है—

" नारी पूछे सूमकी, काहे बदन मलीन ? ।
क्या तुम्हरो कुछ गिर गयो ? या काहूको दीन ? ॥१॥
सूम कहे नारी सुनो गिरो न मैं कुछ दीन ।
देतन देखो औरको, तासों बदन मलीन ॥२॥ इत्यादि ।

यद्यपि संसारके सभी प्राणी यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि जब मनुष्य उत्पन्न हुआ था तब नग्न ही था और जब मरता है, तब भी नग्न ही मरेगा और यह सब परिग्रह यहीं पड़ा रह जायगा, एक तागा भी साथ नहीं जायगा, जैसा कि कहा है—

"आये कुछ लाये नहीं; गये न कुछ लेजायँ ।
बिच पायो बिच ही नश्यो, चिंता करे बलाय ॥"

तात्पर्य–तृष्णा किस वस्तुकी ? यह सब तो कर्मकृत उपाधि है इसलिये ऐसे लोभ तथा तृष्णादिसे अपने अन्तरंग आत्माको रहित

करना और बाह्य शरीरादिकी शुद्धि करना यही उत्तम शौचधर्म सब जीवोंको उपादेय है। कहा है कि—

धार हृदय संतोप. करहि तपस्या देहसों।
शौच सदा निर्दोप, सुख पावे प्राणी सदा ॥
उत्तम शौच सर्व जग जाना, लोभ पापका बाप बखाना।
आशा फांस महा दुखदानी, सुख पावे संतोपी प्राणी ॥
प्राणी सदा शुचि शील, जप. तप, ज्ञान, ध्यान, प्रभावतें।
नित गंग, यमुन समुद्र न्हाये अशुचि दोष स्वभावतें ॥
ऊपर अमल मद भरो भीतर कौन विधि घट शुचि कहे।
बहु देह मैली सुगुण थैली शौच गुण साधु लहे ॥५॥

उत्तम संयम।

जो जीव रक्खणपरो, गमणागमणादिसव्वकम्मेसु।
तण छेदंपि ण इच्छदि संयम भावो हवे तस्स ॥ ६ ॥

अर्थात्—जो गमनागमनादि समस्त क्रिया कर्मोंमें भी तृण (हरितकाय स्थावरजीव) तक छेदना नहीं चाहते, इस प्रकार जीवोंकी रक्षामें तत्पर (सावधान) रहते हैं तथा अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकते हैं ताकि उनके निमित्तसे किसी भी प्राणीके द्रव्य व भाव-प्राणोंका घात न हो, और न उनके आश्रय अपने कर्मास्त्रव हो, उनके उत्तम शौच धर्म होता है। (स्वा० का० अ०)

और भी कहते है—

"इन्द्रियनिरोधः संयमः" इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना सो संयम

है । उत्तम शब्द विशेषण है, अर्थात् किसी भी प्रकारके छल कपट वा ख्याति लाभादिकी इच्छाके विना भले प्रकारसे इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना अर्थात् विषयोंका सेवन नहीं करना जिससे कि प्राण रक्षा हो सके सो उत्तम संयम है।

यह संयम धर्म आत्माका स्वभाव है और ये इन्द्रियां जड़ हैं जो नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई हैं, और इनके विषय भी जड़ हैं जो उदयजनित अन्तरायकर्मके क्षयोपशमसे कर्मानुसार प्राप्त होते हैं, और इनको भोगनेवाला भी जड़ शरीर ही है तथा जीव चैतन्य स्वभाववाला दर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यादि अनन्त गुणोंका आधार स्वरूप शुद्ध चेतना मात्र है। वह इन कर्मजनित उपाधियोंसे भिन्न है और जो सदा अपने ही दर्शन ज्ञानमयी स्वरूपमें रमण करनेवाला है। सो वह इस जड़ शरीरके साथ विषयोंकी इच्छासे अपने अपने वास्तविक स्वरूपको भूला हुआ, अनादि कालसे संसारमें सुर, नर, नरक और पशुगति सम्बन्धी चौरासी लक्ष योनियोंके १९९॥ लक्ष कोटि कुलोंमें भटकता अर्थात् जन्म मरण करता और दुःख भोगता रहता है, परन्तु जिस-समय वह अपने स्वरूपको विचारता है, तब ही शरीरादि समस्त जड़ पदार्थोंसे भिन्न अपने ही भीतर आप ही अपने एक ज्ञायकस्वरूप शुद्ध परमात्माको देखता है और इन्द्रियोंके विषयोंको कर्मकृत उपाधि समझकर उनसे अपना मुँह मोड़ लेता है, अर्थात् उन्हें छोड़ देता है, तब ही यह अपने सच्चे ज्ञायक स्वरूपका लाभ करके स्वानुभवरूपी सुखमें मग्न हुआ परम वीतराग अवस्थाको प्राप्त होता है, और तब ही सच्चा सुखी कहा जाता है।

परन्तु जबतक इन्द्रियोंकी चंचलता बनी रहती है अर्थात् जबतक वे विषयोंकी ओर लगी रहती हैं, अर्थात् इन्द्रियां विषयोंको चाहती व भोगती रहती हैं तबतक स्वरूपका अनुभव नहीं होसक्ता इसलिये इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही उत्तम संयमको प्राप्त होना अर्थात् स्वभावकी प्राप्ति होना है और यही आत्माका धर्म है, इसलिये संयम धर्म आत्माका है और सुखाभिलाषी जीवोंको इसे अवश्य ही धारण करना चाहिये ।

प्राय: संसारी जीवोंको विषयसेवन करनेमें ही आनन्दानुभव होता है और इसलिये उन्होंने अपना यह सिद्धांत निकाल रखा है कि—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥ १ ॥

अर्थात्—जबतक जीना सुखपूर्वक–इन्द्रियभोग भोगते हुए जीना चाहे कर्ज भी क्यों न करना पड़े, तो भी चिन्ता नहीं करना और ऋण लेकर भी घी पीना, क्योंकि शरीरके भस्मीभूत होजानेपर फिर आवागमन कैसा ? अंग्रेजीमें कहते हैं:—

"Eat, drink and be merry."

अर्थात्—खावो, पीवो और मजा उड़ावो, परन्तु उनका यह विचार ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा विचार वे ही अज्ञानी, नास्तिक मती करते हैं, जो आत्माका अस्तित्व व आवागमन और परलोक नहीं मानते और यदि ऐसा भी माने तो ये विषय सामग्रियां इच्छानुसार प्राप्त ही कहां होती है ? अथवा कदाचित् कर्मयोगसे थोड़ी बहुत मिलती भी है, तो निरन्तर चाह बढ़ती ही जाती है, जिससे

कभी तृप्ति नहीं होती। जैसे कि अग्निमें ज्यों ज्यों ईंधन डाला जाता है त्यों त्यों वह और प्रज्वलित होती है तैसे ही विषयोंको सेवन करते हुए निरंतर चाह बढ़ती ही जाती है। अथवा जैसे खाजको खुजानेसे यद्यपि प्रथम सुख जैसा मालूम होता है, परन्तु पीछे और भी अधिक वेदना बढ़ जाती है और खुजानेकी लालसा भी कम नहीं होती वैसे ही विषयभोग पहिले तो सेवन करते हुए अच्छेसे लगते हैं, परन्तु अन्तमें फल भोगते हुए दुःखदायी होकर परिणमते हैं।

इन्हींके कारण कई आदमी आतशक, सुजाक आदिकी बीमारियोंसे पीड़ित देखे जाते हैं। विषयी जीवोंके हाथ पांव शिथिल हो जाते हैं, आंखें अंदर गुस जाती और दृष्टि मंद पड़ जाती है, शरीरकी कांति बिगड़ जाती है, कानोंसे कम सुनाई देने लगता है, नाकसे श्लेष्म बहा करता है, मुँहसे लार टपकने लगती है, शरीरकी सब हड्डी पसली दिखने लग जाती हैं, रक्त, मांस, वीर्यादि सब सूख जाते हैं, द्रव्य नाश होजाता है, लोकसे प्रतीति उठ जाती है, सब लोग उनसे घृणा करने लगजाते हैं, यहांतक कि उनको मक्खियां उड़ाते हुए घरोंघर भीख मांगने पर भी खानेको दाने नहीं मिलते हैं। कहा है—

" यौवन था तब रूप था, ग्राहक थे सब कोय।
यौवन रूप गयो जबै, बात न पूछे कोय॥ १॥ "

विषयोंका सुख क्षणभंगुर है। फिर भी यदि विषयोंमें कदाचित् क्षणस्थायी सुख समझा जाय तो भी असंगत है। कारण, एक जीव जिस पदार्थको भला मानता है दूसरा उसीको बुरा समझता है, तब

कैसे कहा जाय कि विषयोंमें सुख है? यदि विषयोंमें सुख होता, तो फिर उनके सेवन करनेका फल दुःखदायी क्यों होता? देखो, कहा है—

"अली, मातंग, मृग, सल, मीन, विषय इक इकमें मरते हैं।
नतीजा क्या न पावें वे, विषय पांचों जो करते हैं? ॥"

अर्थात्—भौंरा नासिका वश, हाथी मैथुन वश, मृग कानवश, पतंग आंख वश, और मछली जिह्वा वश, ये पांचों एक एक इन्द्रियके आधीन होकर प्राण खो बैठते हैं तब जो पांचों इन्द्रियोंके वश रहते हैं वे क्यों नहीं दुःख भोगेंगे? अवश्य ही भोगेंगे।

इसलिये ये विषय सच्चे सुखाभिलाषी पुरुषोंको विषधर सर्पके समान छोड़ने योग्य हैं। संसारमें जो मोही जीव हैं वे ही इनका दुष्परिणाम देखते हुए भी नहीं छोड़ते हैं, सो वे पुरुष आंख रहते हुए भी अन्धेके समान संसार-कूपमें गिरते हैं और अपने साथ अनुयायियोंको भी ले डूबते हैं। कहा है—

" आप डुबन्ते पांडे, ले डूबें यजमान। "

यथार्थमें जो पुरुष अन्य जीवोंको विषय कषायोंसे छुड़ाकर सन्मार्गमें नहीं लगाते, न आप सन्मार्गमें लगते हैं; किन्तु उलटा उन्हें विषयोंमें फँसानेके लिये उत्तेजना वा सिखावन देते हैं सो ऐसे पुरुष प्रगटरूपसे भले ही हितू जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तवमें तो उनके परम शत्रु हैं, कारण कि जो बात विना सिखाये ही जीवोंमें आजाती हैं तब उनके सिखानेसे तो क्या होगा, उसका कहना ही क्या है? जैसा कि कहा है—

"राग उदै जग अन्ध भयो सहजहि सब लोगन लाज गमाई।
सीख बिना सब सीखत हैं विषयानके सेवनकी चतुराई॥
तापर और रचै रसकाव्य कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अन्ध असूझनकी अँखियानमें झोंकत हैं रज रामदुहाई॥१॥"

तात्पर्य—विषय कषाय तो अनादिसे ही जीवको लग रहे हैं जिनके कारण वे चतुर्गतियोंमें दुःख भोगते हैं। इसलिये इनके सेवनका उपदेश देना व्यर्थ है। वास्तवमें आवश्यकता तो है इन विषयोंके छोड़ने और उपदेश द्वारा अन्यको इनसे विरक्त कराकर छुड़ानेकी तथा सन्मार्गमें लगानेकी। कारण, कि यदि यह अपूर्व और दुर्लभ अवसर हाथसे निकल गया, अर्थात् मनुष्य जन्म विषयोंमें बीत गया, तो फिर अनन्त भवोंमें भी इसका पाना दुर्लभ है। जैसे—समुद्रमें गिरी हुई राईका दाना फिर हाथ आना कठिन है और यह उत्तम संयम सिवाय मनुष्य-जन्मके अन्य देव, नरक, पशु आदि गतियोंमें नहीं हो सकता, इसलिये यदि अवसर पर चूके, तो पछतावा मात्र रह जायगा। जैसे कोई अज्ञानी पुरुष चिन्तामणिको पाकर काग उड़ानेमें फेंककर पीछे पछताता है। इसलिये ऐसा समझकर कि:—

"मानुष्यं वरवंशजन्मविभवो दीर्घायुरारोग्यता।
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे।
विद्वत्त्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिः।
ते पुण्येन विना चतुर्दशगुणाः संसारिणां दुर्लभाः॥"

अर्थात्—मनुष्यत्व, उत्तमकुलमें जन्म होना, विभव, सम्पत्ति, दीर्घ आयु, आरोग्य शरीर, उत्तम संगति, सुपुत्र, सती स्त्री, प्रभु

(जिनेन्द्र) भक्ति, विद्या (ज्ञान विवेक), सज्जनता, इन्द्रियविजय, और सत्पात्र दानमें रति होना ये १४ बातें संसारी जीवोंको उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं, यह विचार कर सदा उत्तम संयम धर्मको यथाशक्ति धारण करके सच्चे अविनाशी सुखको प्राप्त करना चाहिये ।

यह संयम धर्म इन्द्रियोंके रोकने पर होता है। और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकनेका सहज उपाय यह है कि संसार, देह, भोगके स्वरूपका विचार करना, अर्थात् अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन द्वादशानुप्रेक्षाओंका इस प्रकार चिंतवन करना कि—

विश्वमें जो वस्तु उपजत नाश तिनका होयगा ।
तू त्याग इनहि अनित्य लखकर नहीं पीछें रोयगा ॥१॥
देव इन्द्र नरेन्द्र खगपति तथा पशुगति जानिये ।
आयु अंते मरें सब ही शरण किसकी ठानिये ॥२॥
पिता मरकर पुत्र हो अरु पुत्र मर भ्राता सही ।
परिवर्तरूपी जगतमें बहु स्वांग धारत जीव ही ॥३॥
स्वर्ग नर्क हि एक जावे दुख सुःख भोगे एक ही ।
कर्म-फल शुभ अशुभ जेते अन्यको बाटें नहीं ॥४॥
काय जब अपनी न होवे सेव जिहिं नित ठानिये ।
तो अन्य वस्तु प्रत्यक्ष पर है अपनी कैसे मानिये ॥५॥
मल मूत्र आदि पुरीष जामें हाड़ मांस सु जानिये ।
घिन देह गेह सु चाम लिपटी महां अशुचि वखानिये ॥६॥

मन वचन काय त्रियोग द्वारा भाव चंचल होरहे ।
तिनसे जु द्रव्य अरु भाव आस्रव होय मुनिवर यों कहे ॥७॥
योगका चंचलपना रोके जु चतुर बनायके ।
तब कर्म आवत रुकें निश्चय यह सुनो मन लायके ॥८॥
व्रत समिति पंचरु गुप्ति तीनों धर्म दश उर धारके ।
तप तपें द्वादश सहें परिषह कर्म डारें जारके ॥९॥
यह लोक मनुजाकर तीनों ऊर्ध्व मध पाताल है ।
तिनमें सुजीव अनादिसे भटके हुवा बेहाल है ॥१०॥
कल्पतरु अरु कामधेनू रत्न चिन्तामणि सही ।
जांचे विना फल देत नाहीं धर्म दे विन इच्छही ॥११॥
संसारमें सब सुलभ जानो द्रव्य या पदवी सही ।
इक "दीपचन्द्र" अनन्तभवमें बोधिदुर्लभ है यही ॥१२॥

इत्यादि चिंतवन करनेसे संयम भाव दृढ़ रहते हैं ।

यह संयम दो प्रकारका है—इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम । बाह्य इन्द्रियोंको विषयसेवनसे रोकना और अंतरंग आत्मासे विषयोंकी इच्छाको दूर कर देना सो इन्द्रियसंयम है और षट्कायके जीवोंकी रक्षारूप दया पालना सो प्राणिसंयम है । वास्तवमें अन्तरंग संयमके विना बाह्य संयम कार्यकारी नहीं होता है । जैसे ऊपरसे किसी प्रकारका त्याग कर दिया, या उपवासादि कर लिया और अन्तरङ्ग विषय कषाय कैसी ही बनी रहीं, तो उससे कुछ लाभ नहीं होता । कहा है—

" कषायविषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासो स विज्ञेयः, शेषं लंघनकं विदुः ॥१॥ "

अर्थात्—विषय कषायोंका त्याग जहां होता है, वहीं उपवास है, शेष सब लंघनवत् कहा जाता है। इसलिये अन्तरङ्गसे ही विषयोंकी इच्छाको घटाते हुए तदनुसार बाहिर भी इन्द्रियोंको विषयोंसे रोका जाय, तभी वह संयम विशेष लाभदायक होसकता है।

यह संयम देशसंयम और सकलसंयमके भेदसे भी दो प्रकारका होता है। सकलसंयम वह है जिससे यावज्जीव पांचों इन्द्रियोंके विषयोंको, षट्कायके जीवोंकी हिंसाको मन, वचन काय और कृत-कारित अनुमोदनासे सर्वथा त्याग कर दिया जाता है और देशसंयमें शक्ति अनुसार नियमरूपसे तथा यमरूपसे इन्द्रियोंके विषयोंकी सीमा करली जाती है, संकल्प करके त्रस जीवोंकी हिंसाका यथायोग्य त्याग किया जाता है और फिर निरंतर उसे बढ़ाते हुए सकलसंयम तक पहुँचा दिया जाता है—अर्थात् देशसंयम भी सकलसंयमका साधनरूप ही होता है।

साधु मुनियोंका सकल अर्थात् उत्तम संयम होता है, उसमें वे इन्द्रियोंके विषयोंको तो छोड़ते ही हैं, किन्तु उन विषयोंके कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पांचों पापोंका भी सर्वथा त्याग करते हैं और किसी प्रकारका इनमें दोष भी नहीं लगने देते, जिसके लिये ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और व्युत्सर्ग ये पांच समिति; तथा मनवश, वचनवश और कायवश ये तीन गुप्तियां पालते हैं। उपसर्ग और परीषहादि भी सहन करते हैं।

देशसंयम गृहस्थियोंका होता है; जिसमें वे यम, नियमों द्वारा अपनी इन्द्रियोंको वश करने तथा जीवोंकी यथासंभव दया पालनेका

यथाशक्ति साधन करते हैं। यह देशसंयम एकादश प्रतिमाओंमें विभक्त है जो ग्रन्थान्तरों श्रावकाचारोंसे जानना चाहिये। जो पुरुष उत्तम संयम धारण नहीं कर सकते वे देशसंयमद्वारा क्रमसे अपनी शक्तिको बढ़ाते हैं और जब सब प्रकारसे इन्द्रियां वश हो जाती हैं, तब वे सकल संयमको प्राप्त होते हैं। सो ही कहा है—

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्री मन वश करो।
संयम रतन सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥
उत्तम संयम गह मन मेरे, भव भवके भाजें अघ तेरे।
स्वर्ग नर्क पशुगतिमें नाहीं, आलस हरन करन सुख ठाहीं॥
ठाहीं मही जल अग्नि मारुत, रूख त्रस करुणा धरें।
स्पर्श रसना घ्राण नयना, कान मन सब वश करें॥
जिस विना नहिं जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीचमें।
इक घड़ी मत विसरो भविक, तुझ आयु यम मुख बीचमें॥

उत्तम तप।

इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं तवधम्मो णिम्मलो तस्स॥ ७॥

अर्थात्—जो इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुखोंकी अपेक्षा न करके शत्रु, मित्र, कांच, कंचन, महल, मसान, सुख, दुःख, निंदा प्रशंसा आदिमें राग, द्वेष, भाव विना किये समभाव रखते हैं और निर्वांछित हुआ अनशनादि बारह प्रकार तपश्चरण करते हैं, उनके उत्तम तप होता है, सो ही आगे बताते हैं (स्वा० का० अ०)

'इच्छानिरोधस्तपः'—अर्थात् इच्छाको रोकना अर्थात् मनको वश करना या उसके विषयोंके प्रति इन्द्रियोंको प्रेरकरूप गतिको रोकना सो तप है। उत्तम इसका विशेषण है, इससे विदित होता है कि जो तप यश, कीर्ति, पूजा, प्रख्याति, लाभ तथा और अनेकों लौकिक प्रयोजनोंके साधनार्थ न हो, लोक-दिखाऊ न हो, मारन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटनार्थ न हो. यन्त्र, मंत्र, तंत्र, जड़ीबूटी, औषधादिकी सिद्धि करनेके अर्थ न हो, किन्तु अपने सच्चिदानन्द-स्वरूप निर्मल आत्माको अनादि कर्मबंधसे छुड़ानेवाला हो, वही उत्तम तप कहा जाता है।

यह तप धर्म आत्माका स्वभाव है, इसलिये ही यह धर्म कहा जाता है। कारण कि आत्मा अमूर्तीक (रूप, रस, गन्ध और वर्णसे रहित) अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यमयी, अखण्ड एक अविनाशी, सच्चिदानन्द स्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, अजर, और अजन्मा है। यह स्वभावसे ही रोग, शोक, ग्लानि, स्वेद, खेद, क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, भय, विस्मय, निद्रा, मद, मोह, अरति, रति, वेद, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ,) आदिसे रहित, अखण्ड, अविनाशी, सदानन्द-स्वरूप, एक, स्थिर, चैतन्य पदार्थ है। उपर्युक्त दोष तो इसमें कर्मपुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न होरहे हैं, क्योंकि यह इस पुद्गलको अपनाकर उसके हानि, लाभ, सुख, दुःखको अपना ही हानि लाभ सुख वा दुःख समझ रहा है। इसीसे यह रागद्वेषादिरूप परिणमन करके नवीन नवीन कर्मबन्ध करता है तथा प्राचीन बांधे हुए कर्मोंके उदयजनित फलमें अरति व रति भाव करता है। इसप्रकार नवीन कर्म

बांधना और संक्लेश भावोंसे पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मोंको भोगकर छोड़ना, यही इसका एक प्रधान कार्य होगया है।

इस प्रकार कर्मचक्रमें फँसे रहनेसे इसे कभी भी अपने निज स्वरूपका ध्यानतक नहीं आता, जिससे पराधीन हुवा, संसारमें परिवर्तन करता और दुःख भोगता रहता है। जीव कर्म करनेमें तो स्वतंत्र है, परन्तु उसके फल भोगनेमें इसे परतंत्र होना पड़ता है। यह भोला जीव मृगमरीचिवत् वास्तविक सुखको न जानकर इन्द्रियोंके आकुलतापूर्ण अल्पकालस्थायी पराधीन थोड़ेसे विषयसुखोंको पाकर उनमें मग्न होजाता है और उनके अभावमें अथवा शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषादि बाधाओं और रोगादिकोंके होनेपर व्याकुलित होता है।

किन्तु जब यही संसारी आत्मा कोई कारण पाकर अपने स्वरूपका विचार कर अनुभव करता है, तो वह इन सब जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शीतोष्णादि व्याधियोंको कर्मकृत उपाधियोंको मानता हुआ उनसे भिन्न अपने आपको सच्चिदानंद स्वरूप, एक अखण्ड अविनाशी, अनंतदर्शन, ज्ञान, सुख, वीर्यका स्वामी. देखता व जानता है और तब ही सब ओरसे अपने चित्तको रोककर एकाग्र अपने स्वरूपमें लगा देता है। उस समय निजानन्दमें मग्न हुआ यह तेजस्वी आत्मा अनेकों प्रकारकी व्याधियोंके उपस्थित होने या उपसर्गों तथा परीषहोंके आनेपर उनको सहता हुआ, कभी भी अपने ध्यानसे च्युत नहीं होता।

इसप्रकार जब वह निश्चल होकर ध्यानमें मग्न होजाता है, तब उसे बाह्य शरीरपर होनेवाले उपसर्गोंका किंचित् भी ध्यान नहीं

रहता है । भले ही लोग उसे गाली देवें, मारन ताड़न करें, घाणीमें पेलें, करवतसे चीरें फाड़ें, सिंह व्याघ्रादि दुष्ट पशु भक्षण करें व विदारें, शीत, उष्ण आदिका तीव्रतम प्रकोप हो अथवा संपूर्ण रोग एकत्र होकर एकसाथ उदयमें आजावें और असहनीय तीव्र वेदना आजाय तो भी वे अपनेको सुमेरुवत् स्थिर रखते हैं । इसीसे वे राग द्वेषके न होनेके कारण नवीन कर्मोंको नहीं बांधते और प्राचीन अनन्त जन्मोंके किये हुए कर्मोंको भी बहुत थोड़े समयमें भस्म कर डलते हैं।

इसप्रकार संवर पूर्वक निर्जरा करने और पश्चात् सम्पूर्ण कर्मोंके नष्ट होजानेपर अविनाशी अव्याबाध स्वाधीन सुख (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं, इसलिये उत्तम तप आत्माका ही स्वरूप कहा जाता है ।

उत्तम तपस्वी नग्न (दिगम्बर) मुनि ही होते हैं, जिनका स्वरूप इस प्रकार है—

" विषयाशावशातीतो, निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१॥"

अर्थात्—जो साधु विषयोंकी आशा और आरंभ तथा परिग्रहसे रहित होकर निरंतर ज्ञान, ध्यान और तपमें लीन रहते हैं, वे ही तपस्वी प्रशंसनीय हैं ।

तपश्चरण यदि विषयोंकी आशासे करना, अर्थात् जंत्र, मंत्र तंत्र व औषधादि सिद्धि करनेको या अन्य लौकिक प्रयोजन ख्याति, लाभ, पूजादिकी इच्छासे घर छोड़कर वनवास करना और नाना प्रकार कायक्लेश करना केवल आडम्बर मात्र व्यर्थ है क्योंकि इससे उल्टा संक्लेश भावोंके होनेसे दुर्गतिका ही बंध होता है ।

और विषयोंकी सामग्री, ख्याति, लाभ, पूजादि प्रयोजन तो घरमें रहकर भी किंचित् पुरुषार्थ करनेसे प्राप्त होसकते हैं, तव इसके लिये इतना कष्ट उठाना व्यर्थ है। दूसरे विषयोंकी सामग्री व लौकिक ख्याति, लाभ, पूजादिक तो संसारमें अनन्तवार प्राप्त हुए ही हैं। यहांतक कि देवेन्द्र, नरेन्द्र आदिककी अटूट सम्पत्ति, ऐश्वर्य, रूप बलादिक भी बहुवार प्राप्त हुए हैं सो जब उनसे यह जीव तृप्त नहीं हुआ, तो अब क्वचित् कदाचित् तुझे मनोनुकूल कुछ सिद्धि हो भी गई, तो उससे कितने कालतक तृप्ति रहेगी? ये वस्तुएं तो फिर भी नाश हो ही जांयगी, जैसे पहिले अनन्त वार हो चुकी हैं। उस समय जो तूने उनको प्राप्तिके अर्थ घोर कायक्लेश सहन किया है, उसका चिंतवन होनेसे तुझे बहुत दुःखी होना पड़ेगा, इसलिये हे भव्य! किसी भी प्रकारकी आशा व अभिलाषा न करके ही तपश्चरण करना चाहिये।

यदि सावद्य तप किया जाय, जैसा कि प्रायः बहुतसे आत्म-ज्ञानशून्य अज्ञानी पुरुष पंचाग्नि तपते हैं, कोई भस्म लपेटते हैं, कोई मस्तकपर शिला रखते हैं, कोई नख, केश आदि बढ़ाते हैं, कोई झाड़ आदिसे उलटे लटकते हैं, कोई नाक, कान, आदि फाड लेते हैं, कोई पृथ्वीमें शिर दबा लेते हैं, कोई कंटकासनपर सोते हैं, इत्यादि और भी अनेक प्रकारके अज्ञानी तप तपते हैं, वे सब व्यर्थ केवल संक्लेशता बढ़ानेवाले हैं। भले ही कदाचित् लोकमें इससे उनको कुछ ख्याति लाभ होजाय, परन्तु परमार्थ तो इसमें रंचमात्र भी नहीं सधता है। क्योंकि उनका चित्त तो निरन्तर स्वार्थ साधनमें

ही लगा रहता है, जिससे परमार्थ अर्थात् साध्यकी सुधि ही नहीं होने पाती। इसके सिवाय उनकी ख्याति करनेवाले भक्तजनोंमें तो प्रीति और निंदकोंमें द्वेष बढ़ जाता है तथा हिंसासे भरी हुई आरम्भ जनित सामग्री एकत्र करनेकी चिंता बढ़ती जाती है। जिससे अनंतानंत जीवोंकी हिंसादि अनेक प्रकारके अनर्थ उत्पन्न होकर तीव्र कर्मबंध होता और अन्तमें उनको दुर्गतिका मार्ग पकड़ना पड़ता है, इसलिये ऐसी सावद्य अन्तरंग और बाह्य हिंसासे भरी हुई तपस्या करना व्यर्थ है। तपस्या निरारम्भ करना ही श्रेयस्कर है।

यदि सपरिग्रह तपश्चरण किया जाय, तो उस तपको तप कहना ही अनुचित है, क्योंकि जहां निरन्तर परिग्रहकी तृष्णा, चाह और उसकी रक्षाकी चिंता लग रही है वहां तप कैसा? वह तप भी नहीं और तपाभास भी नहीं, किन्तु केवल उपहास मात्र है, कारण परिग्रहके एकत्र करने, और उसकी रक्षा व वृद्धि करनेमें बहुतोंसे क्रोधादि कषायें करना पड़ेंगी, बहुतोंकी सेवा-सुश्रूषा करनी पड़ेगी, बहुतोंकी झूठी सच्ची प्रशंसा करनी पड़ेगी, किसीको भी अवसर पड़नेपर सत्योपदेश न दिया जा सकेगा, सदा भयभीत रहना पड़ेगा इत्यादि अनेक प्रकारकी बाधाएं होंगी और फिर गृहस्थ तथा तपस्वीमें कुछ भी अंतर नहीं रह जायगा, सदा मायाचारी करनी पड़ेगी, दिखानेके लिये अपने दोषोंको ढंकना पड़ेगा, कामादिकी वृद्धि होजायगी। इत्यादि कारणोंसे सपरिग्रह तप नहीं होसकता है, इसलिये परिग्रह रहित ही तप करना चाहिये।

सच्चा तप दो प्रकारका है—अन्तरंग और बाह्य।

अन्तरंग तप जिनका सम्बंध मात्र आत्माके अन्तरंग भावोंसे है, जैसे प्रायश्चित्त (अपने दोषोंकी आलोचना, निंदा, गर्हा पूर्वक गुरुके निकट करके उचित दण्ड लेना), विनय (अपनेसे ज्ञानाचरण तपादिमें श्रेष्ठ गुरुजनोंकी प्रशंसा आदर करना, स्तुति तथा वन्दना करना), वैयावृत्य (साधर्मी साधुजनोंकी सेवा करना), स्वाध्याय (शास्त्राभ्यास करना), व्युत्सर्ग (शरीरादि ममत्वका त्याग करना), ध्यान (चित्तको एकाग्र करके एक ज्ञेयपर लगा देना) ।

बाह्य तप वह है जो शरीरके आश्रित है, जैसे अनशन (स्वाद्य, खाद्य, लेह्य और पेय, इन चार प्रकारके आहारोंका सर्वथा या कुछ दिवस, पक्ष, मासादिका नियम करके त्याग करना), ऊनोदर (भूखसे कम भोजन करना), व्रतपरिसंख्यान (भोजनको जाते समय कठिन और अचिन्त्य प्रतिज्ञा कर लेना), रसपरित्याग (रस त्याग-कर भोजन करना), विविक्तशय्यासन (निर्जन्तु=प्रासुक भूमिपर अल्प काल एक करवटसे शयन करना), कायक्लेश (शरीरको परीषह सहने योग्य बनानेके लिये आतापनादि योग धारण करना ।

तपके अभिलाषी जनोंको प्रथम ही ममत्वभाव छोड़ देना चाहिये क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा, आशा, मद, मत्सर, प्रमाद आदि कषायें, तपस्वीको तपसे भ्रष्ट कर देती हैं। जैसे कि द्वीपायन आदि कितने ही मुनि क्रोधसे आप भी भस्म हुए और असंख्यात जीवोंका संहार करके कुगतिमें गमन कर गये ।

वास्तवमें शांति, क्षमा, संतोष, सहनशीलता, दृढ़ता यही तप-स्वियोंका भूषण है। जैसे—स्वामी सुकुमाल, बाहुबली, पार्श्वनाथ,

देशभूषण, कुलभूषणादि ऋषियोंका तप, दृढ़ता व सहनशीलताके कारण सराहनीय है।

तात्पर्य—जबतक अंतरंग भावोंसे ममत्व दूर न हो, अर्थात् इच्छाओंका अभाव न हो. तबतक बाह्य तप केवल कायक्लेश मात्र निरर्थक है। इसलिये शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिके अर्थ मन, वचन, कायसे इच्छानिरोध रूप लक्षणात्मक उत्तम तप धारण करना ही कर्तव्य है। जैसा कि कहते हैं कि यह तप देवोंको भी दुर्लभ है—

तप चाहें सुरराय, कर्म शिखरको वज्र है।
द्वादश विधि सुखदाय, क्यों न करे निज शक्ति सम ॥
उत्तम तप सब माहिं बखाना, कर्म—शैलको वज्र समाना।
बसो अनादि निगोद मंझारा, भू विकलत्रय पशु तन धारा ॥
धारा मनुप तन महा दुर्लभ, सुकुल आयु निरोगता।
श्री जैनवाणी तत्त्वज्ञानी, भई विषय पयोगता ॥
अति महा दुर्लभ त्याग विषय, कषाय जे तप आदरें।
नरभव अनूपम कनकघर पर, मणिमई कलशा धरें ॥ ७ ॥

उत्तम त्याग।

जो चयदि मिट्ठभोज्जं उवयरणं रायदोससंजणयं।
वसदिं ममत्तहेदुं चायगुणो हवे तस्स ॥ ८ ॥

अर्थात्—जो विषयोत्पत्ति व वृद्धिका कारण मिष्ट पुष्ट गरिष्ट भोजन न करे, रागादि भावोंकी उत्पत्तिका कारण उपकरणादिको छोड़े

और ममत्वका कारण वस्तिका तकका त्याग करे, उसके उत्तम त्याग धर्म होता है । इसीको आगे और भी कहते हैं । (स्वा० का० अ०)

"त्यजतीति=त्यागः" अर्थात् त्यजना, छोड़ना व देना इसे त्याग कहते हैं । उत्तम विशेषण इसकी निर्मलताका सूचक है । अर्थात् जिस दानमें किसी प्रकार मान वड़ाई या छल कपट आशा व बदला पानेकी इच्छा या ख्याति लाभादि कषायोंकी पुष्टि न की गई हो, उसे ही उत्तम दान कहते हैं ।

तात्पर्य—दान उसे कहते हैं, जिससे स्वपरका उपकार हो । जैसा कहा है—'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्' अर्थात् अनुग्रहके लिये अपने द्रव्यसे ममत्वका त्याग करना सो दान है । वास्वमें दान देनेसे, उस वस्तुसे जो दानमें दी जाती है, अपना ममत्व छूटता है और वह जिसे दीजाती है, उसकी अभीष्ट सिद्धि होनेसे उसके आर्त परिणामोंकी न्यूनता होती है इसीलिये स्वपरोपकारार्थ कहा गया है ।

जिस दानसे दाताके मानादि कषायें बढ़ें व पात्रके विषयोंकी वृद्धि हो, अथवा एकके दानसे बहुतोंका घात होता हो, वह दान नहीं कहा जाता है; क्योंकि उसमें स्वपरका अपकार होता है ।

दान दो प्रकारका है—अंतरंग अर्थात् स्वदान और बाह्य अर्थात् परदान ।

अंतरंग दान (स्वदान) उसे कहते हैं, जिसमें अपने आत्माको अनादि कालके लगे हुए मोह, राग, द्वेष, ममत्वादि भावोंसे जिनके कारण वह सदा भयभीत और दुःखी रहता है, छुड़ाकर निर्भय कर देना ।

बाह्य दान (परदान) वह है, जिसमें दूसरे जीवोंके उपकारार्थ

उनकी आवश्यकतानुसार आहार, औषधि, शास्त्र और अभय आदि दान दिया जाय।

दान कई प्रकारसे दिया जाता है। जैसे भक्तिदान, करुणादान, कीर्तिदान, समदान इत्यादि। इनमें अंतके समदान और कीर्तिदान ये दो दान केवल लौकिक व्यवहारार्थ हैं। इनसे परमार्थ कुछ भी नहीं होता है किन्तु पहिले दो—भक्तिदान और करुणादान ये दान श्रेष्ठ हैं।

भक्तिदान साधु, मुनि आदि गुरुजनोंको, तथा साधर्मी व्रती श्रावकों और सम्यग्दृष्टि जीवोंको, उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्रकी वृद्धिके अर्थ हर्षयुक्त होकर दिया जाता है।

करुणादान दुःखित, भूखे, अंगहीन, अपाहिज, निःसहाय, बालक, वृद्ध, स्त्री, दीन जीवोंको, उनके दुःख दूर करनेको करुणाभावोंसे दिया जाता है।

सुदान और कुदान इस प्रकारसे भी दान दो प्रकारका है।

सुदान वह है, जो भक्तिसे संयमी मुनि, व्रती, श्रावक, अव्रती सम्यग्दृष्टि आदि सुपात्रोंको तथा करुणाभावसे दुःखी, दीन, निःसहाय जीवोंको दिया जाय।

कुदान वह है जो कीर्तिके लिये पात्र अपात्रको न देखकर केवल विषयकषायोंको चढ़ानेवाली वस्तुएं जैसे, गज, अश्व, गाय, महिषी, गाड़ी, रुपया, पैसा, स्त्री, मकान आदि देना।

ऊपर चार प्रकारका दान तो सामान्य प्रकारसे बताया गया है, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षासे दानके प्रकारोंमें भी

विशेषता पड़ जाती है और सदा काल किसी एक ही दानकी मुख्यता नहीं रहती है। आवश्यकतानुसार दानोंमें मुख्यता और गौणता हुआ करती है। जैसे भूखेको भोजन देनेहीकी मुख्यता है, रोगीको औषधि देनेकी, भयातुरको अभयदान देनेकी और मूर्खको ज्ञान दान ही देनेकी मुख्यता है। जब कोई भूखसे पीड़ित हो तब उसे औषधि, रुपया, पैसा, शास्त्रादि देना निष्प्रयोजनीय है, उसे तो पेटभर भोजन ही देना उचित है—जैसे एक मुर्गा जो भूखसे व्याकुल हो, भक्ष्यकी खोजमें फिर रहा था, उसे मोती दृष्टि पड़ा तब उससे अति घृणासे कहा—"रे मोती! यद्यपि तू जौहरीके निकट जो कि तुझे चाहता है, भले ही बहुमूल्य है, किन्तु इस समय मेरी दृष्टिमें तो तू एक दाने अनाजसे भी कम दामका है।" इसी प्रकार जब जहां मरी, प्लेग, विशूचिका आदि बीमारियां फैल रही हों, तब वहां कोई शास्त्र बांटने लगे, तो व्यर्थ ही होगा। इसलिये दान करनेके पहिले दानका द्रव्य, दानका पात्र, दानकी विधि, क्षेत्र व कालकी आवश्यकता और अपनी शक्ति देख लेना आवश्यक है, तभी वह दान सार्थक होता है।

औषधि, शास्त्र, अभय और आहार इन चार दानोंके सिवाय यदि आवश्यक है तो मकान, रुपया, वस्त्र, वाहनादि भी दिये जा सकते हैं, कुछ इनका सर्वथा निषेध नहीं है। जैसे वस्तिका, प्रोषध-शाला, धर्मशाला, पाठशाला, चैत्यालय, आदि सर्वसाधारणके उपकारार्थ बनवा देना मकान या स्थान दान है। रुपयोंसे अनाथाश्रम, छात्राश्रम, श्राविकाश्रम, विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय खोल देना हिरण्य दान है। सर्वसाधारणके उपकारार्थ सत् शास्त्रोंको प्रकाशित करके विनामूल्य

व अल्पमूल्यमें वितरण करना, शीत ऋतुमें दीन पीड़ितोंको वस्त्र देना, विद्यार्थियोंको वस्त्र बनवा देना, सत्पात्र साधर्मी भाइयोंको जिनके पास तीर्थ यात्रादिका साधन न हो, उन्हें उसका साधन वाहन आदिका बन्दोवस्त कर देना, इत्यादि।

दानमें दानकी विधि, दानका द्रव्य, दानका पात्र और दातारके भावोंकी अपेक्षासे अर्थात् विशेषतासे विशेषता होती है। इनमें दातारके भाव मुख्य हैं। शुभ भावोंसे सुपात्रको उसकी योग्यतानुसार दिया हुआ दान अतुल फलदाता होता है। जैसे तीर्थङ्करको दिया हुआ दान दाताको तद्भव मोक्ष पहुंचा देता है और कुपात्रको दिया हुआ दान हीनऋद्धि, कुभोगभूमि या तिर्यंचगतिका कारण होता है। कहावत है—

"मान बड़ाई कारणे, जे धन खर्चें मूँढ़।
मरकर हाथी होयँगे, धरनी लटके सूँढ़॥"

और अपात्रको दिया हुआ दान तो नरक निगोदादि गतिको ही ले जानेवाला होता है।

दान आत्माका निजभाव है, इसीलिये इसे धर्म कहा गया है। कारण कि मोहादि भाव, जिनसे यह जीव परवस्तुओंको अपनाकर उनमें लवलीन हुआ "मैं मैं और मेरा मेरा" कर रहा है और जिनके संयोग वियोगमें हर्ष-विषाद करता है, इसके स्वभाव नहीं हैं किंतु विभाव हैं। और यह जीव तो इनसे भिन्न स्वच्छन्द सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-दृष्टा मात्र है, कर्ता भोक्ता नहीं है, सबसे भिन्न स्वरूपमें रमण करनेवाला सच्चिदानन्द स्वरूप है। जब यह आत्मा स्वानुभव करता है

तो तीन लोककी संपत्तिको तृणवत् देखता है। इन सब पदार्थोंको कर्मकृत उपाधि मानता है, तब इनसे विरक्त हो इन्हें जहांकी तहां छोड़कर स्वरूपमें लीन होजाता है। और यदि कोई प्रबल चारित्रमोह-कर्म इन्हें सर्वथा छोड़नेमें बाधक होता है तो जलकमलवत् विरक्त भावोंसे लक्ष्मीका भोगोपभोग करता हुआ उससे भिन्न रहता है तथा यथासंभव समय २ उसे त्याग भी करता जाता है और सुअवसर पाकर इनको सर्वथा त्याग देता है।

थोड़ा २ त्याग करनेका प्रयोजन केवल विना संक्लेश भाव हुए ममत्व भाव घटाना तथा त्यागशक्तिका बढ़ाना है। जो निरंतर थोड़ा बहुत दान किया करते हैं, वे किसी समय सर्वथा त्याग करनेमें भी समर्थ होते हैं, परन्तु जिन्हें खर्च करनेका (दान करनेका) अभ्यास नहीं होता है, वे अवसर आनेपर भी छोड़ नहीं सकते और इस सम्पत्तिके इतने मोहमें पड़ जाते हैं कि मरते मरते भी उन्हें अपनी द्रव्यरक्षाकी चिन्ता बनी रहती है जिससे कितने तो मरकर अपने पूर्वजन्मके द्रव्य-कोष (भण्डार) में सर्प होते हैं। और यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि जिस पर वस्तुका संयोग होता है उसका नियमसे वियोग होता है। सो द्रव्य या तो अपने संचय करनेवालेको उसका पुण्य क्षीण होते ही उसी जन्ममें उसके ही सामने ही छोड़कर चला जाता अर्थात् पृथक् होजाता है। जैसे बहुतसे बड़े २ रईस, व्यापारी, जौहरी आदि देखते २ धनहीन हो, पर-आश्रित भोजन पानेको भी तरसते देखे जाते हैं। अर्थात् राजासे गरीब–निर्धन (रङ्क) हो जाते हैं या संचयकर्ता स्वयं अपने द्रव्यको छोड़कर चले जाते अर्थात् मर जाते हैं। ऐसी अवस्थामें

जिनको द्रव्य उत्पन्न करके उसका दान करनेका अभ्यास होता है, उन्हें तो द्रव्यके वियोग होनेपर भी न कुछ कष्ट होता है और न उसके संयोगमें हर्ष होता है। क्योंकि वे तो उसके चंचल स्वभावसे परिचित हैं, इसीसे उसे दृढ़तासे नहीं पकड़ते और देते रहते हैं। परन्तु जिन्हें दान करनेका अभ्यास नहीं है, वे तो हाय २ करके मरकर पशु व नरकगतिमें घोर दुःख भोगते हैं।

जो लोग द्रव्य एकत्र ही करते हैं और खर्च नहीं करते हैं, ऐसे कंजूसके संसारमें अनेक लोग निष्कारण ही शत्रु बन जाते हैं और धनी कंजूस सदा चिंतावान् तथा भयवान् बना रहता है। जहां उनके पास कोई मिलनेको भी आया कि उन्हें यही शंका रहती है कि कहीं यह कुछ मांगेगा तो नहीं ?

एक समय एक सेठके यहां कोई उपदेशक गया, तो मिलते ही सेठजीने जुहारुके बदले यही कहा "थे, कांई कुछ मांगेगा तो नई ? अठे लेवा देवारी बात करो मती" तात्पर्य यह कि कंजूस सदा शंकित रहता है। कभी२ वह अतिलोभमें पड़कर धूर्तोंके हाथ उलटा पासका सब धन खो बैठता है। तथा ऐसे २ और भी बहुतसे अनर्थ करता है। निदान जब अन्त समय आता है तो और तो क्या, अपना चिर-पोषित शरीर तक भी साथ नहीं जाता और सब ठाट यहीं पड़ा रह जाता है। केवल उतना ही साथ जाता है जो उत्तम भावपूर्वक भक्ति व दयादानमें दिया हो। सो यदि कुछ उन्होंने दिया होता तो अवश्य वह उसको आगामी किसी समय मिल जाता। इसलिये जिन्हें अपने साथ लें जाना है उन्हें चाहिये कि अपने सामने क्या, अपने

ही हाथसे अपना द्रव्य सुपात्र दानमें लगाकर अपने साथ ले जांय। कहा है कि—

"घर गये सो खोगये; अरु देगये सो ले गये।"

"पिता रत्नाकरो यस्य, लक्ष्मी यस्य सहोदरी।
शंखो भिक्षाटनं कुर्यात्, नादत्तमुपतिष्ठते॥"

अर्थात्—समुद्र (जिसमें रत्न उत्पन्न होते हैं) जिसका पिता है और लक्ष्मी बहिन है, वही शंख घर घर भीख मांगता फिरता है। यह दान न देनेका ही फल है। प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि एक पिताके ४ पुत्रोंमें ३ धनी और १ निर्धन होजाता है, यह सब दानका माहात्म्य है। इसलिये सदा दान करनेका अभ्यास रखना चाहिये। जिनको ममत्व कम होता है, वे ही दान करते हैं और जब सर्वथा ममत्व छूट जाता है, तब उसे सर्वथा छोड़कर उत्तम पुरुष स्वात्मसिद्धिमें लग जाते हैं।

बहुतसे लोग अपने जैसे श्रीमानोंको खिलाने या जीमनवार करनेको ही दान समझते हैं, पर यह उनकी भूल है, क्योंकि श्रीमानोंको देना निरर्थक है। कहा भी है—

"वृथा वृष्टिः समुद्रेषु, वृथा तृप्तेषु भोजनम्।
वृथा दानं धनाढ्येषु, वृथा दीपो दिवापि च॥"

अर्थात्—समुद्रमें वृष्टि होना, खाये हुएको खिलाना, धनीको दान देना और सूर्यको दीपक बताना व्यर्थ है। बहुत लोग अपनी बहिन, बेटी, बेटा, स्त्री आदिको कुछ द्रव्यका विभाग करके अपनेको दानी मान लेते हैं, परन्तु यह भी दान नहीं है, क्योंकि वे लोग

तो दयादार हैं । न दोगे, तो लड़ झगड़कर तुम्हारे आगे पीछे लेवेंगे ही, तब उन्हें देकर तुमने क्या दान किया ? यदि किसी निरपेक्ष पुरुषको भक्ति व करुणासे दिया, तो निःसंदेह वह दान कहाता । कितने लोग विना सोचे समझे पुरानी रूढ़िको पकड़े हुए केवल एक ही कार्य मंदिर बनाने व रथ प्रतिष्ठादिमें जो कि कुछ कालसे उस समयकी आवश्यकतानुसार किसी बुद्धिमान पुरुषका चलाया हुआ था, खर्चते चले जाते हैं, और यह नहीं देखते कि अब इसकी कहां कैसी आवश्यकता है या नहीं है ? विना आवश्यकताका दान द्रव्यका अपव्यय मात्र समझना चाहिये । इसलिये सदा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी योग्यताको समझकर ही दान देना चाहिये । जो दान नहीं देते हैं वे अपने ही आत्माको ठगते हैं—अर्थात् मोहसे तीव्र कर्म बन्ध कर संसारमें भटकते हैं, इसलिये दान करना मनुष्यका प्रधान कर्तव्य है । सो ही कहते हैं—

दान चार परकार, चार संघको दीजिये ।
धन बिजली उनहार, नरभव लाहो लीजिये ॥
उत्तम त्याग कहो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा ।
निश्चय रागद्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनों दान सम्हारे ॥
दोनों सम्हारे कूप जल सम, द्रव्य घरमें परिणया ।
निज हाथ दीजे साथ लीजे, खाया खोया वह गया ॥
धन साधु शास्त्र अभय दिवैया, त्याग राग विरोधको ।
विन दान श्रावक साधु दोनों, लहैं नाहीं बोधको ॥ ८ ॥

उत्तम आकिञ्चन्य ।

तिविहेण जो विवज्जइ चेयण मियरंच, सव्वहा संगं ।
लोयविवहारविरहो णिग्गयत्तं हवे तस्स ॥ ९ ॥

अर्थात्—जो चेतन अचेतन दोनों प्रकारके परिग्रहोंको मन वचन काय, कृत कारित अनुमोदना करके सर्वथा छोड़ देता है तथा जो लोकव्यवहार तकसे विरक्त होता है, वही उत्तम आकिंचन्य धर्मका धारी निर्ग्रंथ साधु होता है । आगे इसीको और भी कहते हैं ॥ ९ ॥
(स्वा० का० अ०) ।

"न किञ्चनः इति आकिञ्चनः, तस्य भावः आकिञ्चन्यः"— अर्थात् किञ्चित् भी परिग्रहका न होना सो आकिंचन्य है । उत्तम विशेषण है, जिससे बोध होता है, कि परिग्रह केवल दिखाने मात्रको अलग नहीं किया है, किन्तु अन्तरंगमें भी उसकी चाह नहीं रही है। इस प्रकार उसके गुरुत्वको प्रकाशित करनेवाला है । यह आकिञ्चन्य धर्म आत्माका ही स्वभाव है कारण कि आत्मा शुद्ध चैतन्य अमूर्तीक पदार्थ है और परिग्रह पुद्गलमयी रूपी पदार्थ है, जो आत्मासे सर्वथा भिन्न स्वरूप है । इसके संयोगसे आत्मा ममत्वरूप परिणमता है और इसके ममत्व छूटते ही स्वभावको प्राप्त होजाता है। तात्पर्य—परिग्रहकी मूर्छातक भी न होना सो आकिंचन्य धर्म है और इसीलिये इसे आत्माका स्वभाव कहा जाता है ।

परिग्रहका लक्षण आचार्योंने इस प्रकार कहा है—

"मूर्छा परिग्रहः"—अर्थात् ममत्व भाव ही परिग्रह है ।

केवल धन, धान्यादि बाह्य पदार्थोंके न होने मात्रसे अपरिग्रह—आकिञ्चन्य नहीं कहा जासकता है क्योंकि यदि बाह्य वस्तुओंका न होना ही अपरिग्रहत्व मान लिया जाय, तो बालक, पशु, पक्षी आदि तथा गरीब, निर्धन, जंगली मनुष्य भीलादिक जो प्रायः नग्न ही रहते हैं, वे सब ही अपरिग्रही समझे जावेंगे, परन्तु ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि उनको लाभान्तराय कर्मके तीव्र उदयसे यद्यपि वे पदार्थ प्राप्त नहीं हुए हैं, तो भी उनको उन वस्तुओंके प्राप्त करनेकी इच्छा अवश्य है। इसलिये वे बाहरसे अपरिग्रही होते हुए भी बहुपरिग्रही हैं। क्योंकि वे निरन्तर चाहकी दाहमें दहा करते हैं। इसलिये उन बेचारोंको सुख शांति कहां? इसीसे आचार्योंने और भी परिग्रहके आभ्यंतर और बाह्य दो भेद कहकर खुलासा कर दिया है।

अर्थात् आत्माके चौदह प्रकारके विभावभाव सो ही अन्तरंग परिग्रह हैं। जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, हास्य, शोक, भय, रति, अरति, जुगुप्सा, वेद इत्यादि।

और बाहिरके भोगोपभोग सम्बन्धी दश जातिके चेतन अचेतन समस्त पदार्थ, बाह्य परिग्रह हैं। जैसे धन—गाय, महिषी, घोड़ा, हाथी आदि जानवर और सवारी आदि, धान्य—अन्नादिक भोज्य पदार्थ, क्षेत्र—खेतादि जमीन, जागीर आदि, वास्तु—रहनेके मकान आदि, हिरण्य—रुपया, पैसा, मुहर आदि मुद्रित सिक्के, सुवर्ण—आभूषणादि वस्त्रादिक, दासी, दास, कुप्य—बखार, बंडा, खोड़ियादि, भाण्ड—थाली, लोटा आदि खानेपीने व रांधनेके बर्तन आदि।

अन्तरंग परिग्रहका त्याग किये बिना बाह्य परिग्रहका त्याग

निरर्थक है। इतना अवश्य है कि वाह्य परिग्रह अन्तरंग भावोंकी मलीनताका कारण है, इसलिये जो अंतरंग परिग्रह त्याग करना चाहते हैं उन्हें वाह्य परिग्रह तिल तुषमात्र भी नहीं रखना चाहिये और जिनके अन्तरंग परिग्रह नहीं है उनके वाह्य परिग्रह तो होता ही नहीं है क्योंकि विना रागादि भावोंके परिग्रहकी रक्षा व सम्हाल हो नहीं सकती, और यदि एक लँगोटी मात्र भी परिग्रह पास रहेगा, तो वह भी सदैव परिणामोंमें मलीनता उत्पन्न करता रहेगा, तव आत्मध्यानमें वाधा पड़ेगी।

जैसे कि लंगोटी खोजाने, फट जाने, मलीन होजाने, उसे स्वच्छ करने, संशोधन करने, नवीन प्राप्त करने इत्यादिकी चिन्ता होवेगी ही अथवा न मिलनेसे रागद्वेष भी होजायगा। इत्यादि कारणोंसे वाह्य परिग्रहका सर्वथा त्याग होना अन्तरंग विशुद्धताका कारण है और इसलिये दिगम्बर साधु बिलकुल तुरंतके जन्मे हुए बच्चेके समान निर्विकार नग्न रहते हैं।

वहुतसे लोग नग्न दिगम्बरत्वको देखकर अपने परिणामोंमें विकार भाव उत्पन्न होजानेकी शंका करते हैं और इसलिये वे साधुओंको नग्न देखकर निन्दा करते हैं, जैनियोंकी नग्न दिगम्बर मूर्तिपर आक्षेप करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है। नग्न पुरुषको देखकर विकार भाव उत्पन्न हो जाते हैं, यह असंगत है। यदि उन्होंने कुछ भी विचार-वुद्धिसे कार्य लिया होता, तो ऐसा कभी भी नहीं कहते क्योंकि प्रत्येक पुरुष अपने घरमें या वाहर छोटे२ वालक वालिकाओंको प्रायः नग्न देखते हैं तव क्या उन्हें विकार भाव होजाता है? माता अपने

पुत्रको स्नान कराती है, उसके मलमूत्रके अंगोंको धोती है। इसीप्रकार पिता व भाई अपनी पुत्रियों, व छोटी बहिनों, बच्चियोंको नहलाते, धुलाते, खिलाते हैं, तब क्या विकार भाव होजाता है? अथवा क्या वे बालक जन्मसे ही वस्त्र पहिने रहते हैं? कभी नहीं, क्योंकि भारतीय बालिका कमसे कम चार पाँच वर्ष तक और बालक आठ दश वर्ष तक तो प्रायः नग्न ही फिरा करते हैं।

और मातापितादि गुरुजन जब कोई असाध्य व्याधिसे पीड़ित होजाते हैं, वस्त्रोंमें मल मूत्र कर देते हैं, स्वयं स्वच्छ नहीं कर सकते हैं, तब उनके तरुण पुत्रपुत्रियां, पुत्रवधुएँ, बहिनें आदि उनके शरीरको धोकर साफ कर देती हैं, तब वे तो विकारको नहीं प्राप्त होते हैं। बालक माताके स्तनको मसलता है, चूसता है. तब न मा और न बेटा कोई भी विकारको प्राप्त नहीं होते हैं।

डाक्टर लोग स्त्रियोंके पेटमेंसे बालक निकालते हैं, प्रसूति कराते हैं, तथा और भी स्त्री पुरुषोंके गुप्त अंगोंकी परीक्षा व चिकित्सा करते हैं, तब उन्हें तो विकार नहीं होजाता है, न वे स्त्री पुरुष, जिनकी चिकित्सा होती है विकारको प्राप्त होते हैं। पशु निरंतर नग्न ही रहते हैं, तो भी निरंतर नर पशु मादीको देखकर व मादी नरको देखकर विकारको नहीं प्राप्त होजाते हैं।

इससे जानना चाहिये कि मात्र नग्नत्व ही विकारको उत्पन्न करनेका कारण नहीं है किन्तु अन्तरंगका मेदभाव ही विकारका कारण है और कदाचित् किसीको कारणवश विकार हो भी जाय, तो क्या उत्तम पुरुष इन लोगोंके भयसे छोड़ देंगे? मानों कि गधा मिश्री

खानेसे मर जाता है तो गधा भले ही मिश्री न खाये परन्तु और पुरुष तो मिश्री खाना न छोड़ेंगे। इससे निश्चय हुआ कि नग्नत्व विकार उत्पन्न होनेका कारण नहीं है।

किन्तु जो पुरुष बाहरसे तो नग्न हो और अन्तरंगमें मलीन हो, तो उससे अवश्य ही विकारोत्पन्न होनेकी संभावना है, किन्तु निर्विकारको नग्न देखकर नहीं, जैसे बालकादिका दृष्टान्त।

दूसरे, यह भी तो कहावत है कि " जाके मनहिं भावना जैसी, प्रभु तिन मूरति देखी तैसी " इत्यादि। इसलिये ऐसे नीच विषयी पुरुषोंके कारण क्या मोक्षाभिलाषी जन अपने कर्तव्यको छोड़ देते हैं? क्या उल्लूको सूर्य अपनी प्रभासे अन्ध हुआ जानकर वह अपनी प्रभाको रोक लेता है? अर्थात् क्या वह फिर उदित नहीं होता? क्या चोरोंको इष्ट न होनेके कारण चन्द्रमा अपनी चांदनीको संकोच लेता है? नहीं नहीं, कभी नहीं।

इसी प्रकार कदाचित् कोई तीव्र मोही रागी पुरुष परम दिगम्बर शांतिमुद्रायुक्त साधुओंको देखकर भी विकारको प्राप्त होजाय तो यह दोष साधुका नहीं, किन्तु यह उसीके दुष्कर्मोका दोष है, जो कि अपना तीव्र कर्म बांधकर कुगतिको जानेका सामान तैयार कर रहा है।

इसलिये अपने अन्तरंग भावोंको निर्मल रखनेके लिये बाहरके भी सब प्रकारके परिग्रहको सर्वथा त्यागना चाहिये। क्योंकि भावोंकी निर्मलताके विना निर्विकल्प आत्मध्यान नहीं होता और सच्चे आत्मध्यान बिना मोक्ष नहीं होती है। और जो कोई जीव परिग्रहको सर्वथा नहीं छोड़ सकते हैं, तो उन्हें उसका अपनी परिस्थितिके अनु–

सार यथ.शक्ति प्रमाण अवश्य ही कर लेना चाहिये। सो ही कहा है—

परिग्रह चौवीस भेद, त्याग कियो मुनिराजने।
तृष्णा भाव उछेद, घटती जान घटाइये॥
उत्तम आकिंचन गुण जानो, परिग्रह चिंता ही दुख मानो।
फांस तनकसी तनसें साले, चाह लंगोटीकी दुख भाले॥
भाले न समता सुख कभी नर, विना मुनिमुद्रा धरे।
धन नगन तन पर नगन ठाड़े, सुर असुर पायन परे॥
घरमांहि तृष्णा जो घटावे, रुचि नहीं संसारसे।
बहु धन बुराहू भला कहिये, लीन पर उपकारसे॥९॥

उत्तम ब्रह्मचर्य्य।

जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं।
कामकहादिणियत्तो णवहा बंभं हवे तस्स॥१०॥

अर्थात्—जो स्त्रीजनोंका संग, उनके रूपादिका अवलोकन और काम कथा श्रवण तथा पूर्वरतानुस्मरण, मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना करके नहीं करता है उसके उत्तम ब्रह्मचर्य्य होता है। सो ही आगे कहते हैं। (स्वा० का० अ०)

"ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचर्य्यः" अर्थात् ब्रह्म-आत्मामें चर्य्या रमण करना, सो ब्रह्मचर्य्य है। उत्तम विशेषण उसकी निर्दोषतांका सूचक है।

यह ब्रह्मचर्य धर्म आत्माका ही स्वभाव है कारण कि जबतक

जीव विभाव भावों सहित रहता है, तबतक उसे शुद्धात्मस्वरूपका बोधतक नहीं होता है और वह पुद्गलादि परवस्तुओंमें ही लीन रहता है । इसीलिये जबतक पर पदार्थोंके भोगरूप विभाव भावोंका अभाव नहीं होता, तबतक स्वभावको प्राप्त नहीं होता। इसलिये जब यह इन विभाव भावों तथा क्रियाओंसे पृथक् होकर स्वरूपमें मग्न हुआ परमानन्दमयी अवस्थाको प्राप्त होता है सो ही इसकी यथार्थ ब्रह्मचर्यावस्था है । इसलिये ब्रह्मचर्यको कर्म कहा है, क्योंकि वह वस्तुका स्वभाव ही है ।

व्यवहारमें ब्रह्मचर्य्य मैथुनकर्मसे सर्वथा पराङ्मुख होनेको कहते हैं—अर्थात् संसारकी स्त्री मात्रको व पुरुष मात्रको, चाहे वे मनुष्य, पशु, देव आदि गतियोंके सजीव हों या काष्ठ, पाषाण, धातु आदिकी मूर्ति व चित्रामके हों परन्तु उनको सराग भावसे नहीं देखना अथवा उनमें पत्नी या पतिभाव न करना अथवा उनको माता, बहिन, बेटी, पिता, भाई बैटेकी दृष्टिसे देखना सो ब्रह्मचर्य है ।

यद्यपि और इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन रहना भी अब्रह्मचर्य है कारण विषय मात्र पौद्गलिक विभाव परिणति है । तथापि मुख्यतासे स्पर्श इंद्रियके विषय (मैथुन) को ही अब्रह्म ग्रहण किया है, उसका कारण यह है कि और इंद्रियोंके विषयसे स्पर्श इंद्रियके विषयकी प्रबलता देखी जाती है । कारण, अन्य इंद्रियोंके विषय इसप्रकार न तो लोकविरुद्ध ही पड़ते हैं कि जिनके सेवन करनेमें जनसाधारणकी दृष्टि बचानेका प्रयत्न किया जाय, न इतने भय वा परिग्रहकी चिंता ही होती है । वे सहज २ थोड़ी मेहनतसे ही प्राप्त होसकते

हैं और सब इन्द्रियोंके विषय स्पर्श इंद्रियके ही साधनरूप हैं, वे सब इसे उत्तेजन देते हैं। यही कारण है कि ब्रह्मचारी नर-नारियोंको अंजन, मंजन, शृंगार, विलेपन, वस्त्राभूषण, पौष्टिक भोजन, राज, रंग आदि कार्य वर्जित किये गये हैं क्योंकि ये सब कामोत्तेजक हैं। तात्पर्य—कामको जीतना ही ब्रह्मचर्य है क्योंकि यह सर्वसाधारणको सहज २ वश नहीं होता है। यहांतक कि यह तपस्वियोंको तपसे भी भ्रष्टकर देता है।

देखो, ब्रह्माकी लोकप्रसिद्ध कहावत है, कि जब ब्रह्माके तपसे इन्द्रका आसन कांपने लगा, तो उसे भय हुआ कि यह मेरा सिंहासन लेना चाहता है। तब उसने सबसे प्रबल उपाय उसे तपसे भ्रष्ट करनेका यही सोचा कि स्त्रीको भेजना चाहिये, वहीं मेरा अभीष्ट सिद्धकर सकेगी। क्योंकि कहा है—

"स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः?॥"

अर्थात्—स्त्रीका चरित्र और पुरुषके भाग्यको देव भी नहीं जानता है, तो मनुष्यकी क्या बात है? देखो, स्त्रीके वशीभूत होकर शिवजीने उसे अपने अर्द्ध अंगमें धारणकर रक्खो है। स्त्रीके वियोगमें रामचन्द्र पागलोंकी तरह वनमें भटकते फिरे हैं। श्रीकृष्ण भगवानने राधिकाको ठगनेके लिये नाना प्रकारके स्वांग रचे हैं। भीष्म पितामहको अपने पिताके धीवरी कन्यापर आसक्त होनेके कारण आजन्म ब्रह्मचर्य रखना पड़ा है। महर्षि पाराशरने उसी धीवर कन्याके साथ बलात्कार कर, व्यासजी नामके पुत्रको कामसे पीड़ित होकर उत्पन्न किया है। और भी अनेक कथाएं पुराणोंमें ऐसी हैं कि जो पुरुष प्रबल

शत्रुको मुक्केसे ही मार डाले, जो सिंहको पकड़कर उसके दांत अपने हाथोंसे उपाड़ ले, जो सांपको पांवसे मसल दे, हाथीका कुंभ नखोंसे विदार डाले, और भी अनेक अपौरुषेय चमत्कारी कार्य कर सकें तथा जिसको जीतनेवाला त्रैलोक्यमें और कोई न हो, उसे भी स्त्री बातकी बातमें केवल कटाक्ष मात्रसे वश कर लेती (जीत लेती) है। इसलिये इससे उत्तम और कोई उपाय संसारमें नहीं है, ऐसा स्थिर करके उसने तिलोत्तमा नामकी अप्सरा ब्रह्माको ठगनेके लिये भेजी।

तिलोत्तमाने आते ही अनेक प्रकारके हाव, भाव, विभ्रम, कटाक्षादिसे पूर्ण संगीत व नृत्य आरम्भ किया। जब ब्रह्माजी ध्यानसे च्युत होकर उस ओर देखने लगे, तो वह पीछे नाचने लगी, ब्रह्माने पीछे भी मुंह बनाया। तब वह दांये बांयें नाची, ब्रह्माने दांये बांयें भी मुंह बना लिया अर्थात् चतुर्मुख होकर देखने लगे। तब वह आकाशमें नाचने लगी इसपर ब्रह्माने गर्दभाकार मुंह बनाकर आकाशमें देखना आरम्भ किया, तब वह अप्सरा इन्हें तपसे भ्रष्ट जानकर विलुप्त होगई, और ब्रह्माजी अपने ३५०० वर्षके तपसे भ्रष्ट होगया। ऐसा (जैनेतर मतके) ब्रह्मादि पुराणोंमें कहा है।

और भी प्रत्यक्ष देख लीजिये। इसमें प्रमाणोंकी आवश्यक्ता नहीं है कारण कि संसारमें विद्या, शास्त्र, कला, कौशल्यादिको सिखानेके लिये तो स्कूल, पाठशाला, कालेज आदि संस्थाएं खुली हैं, तो भी लोग इन्हें कठिनतासे पढ़ते हैं अथवा मूर्ख रहकर पशुओंके समान संसारमें जीवन बिताते हैं—अर्थात् गुण, विद्या तो सिखानेपर भी कठिनतासे आती है, परन्तु काम कला विना ही सिखाये विना

ही शिक्षाके आपहीसे आ जाती है। यदि अन्य इंद्रियोंकी विषय-सामग्री कुछ कालतक न भी मिले, तब भी यह जीव इतना विह्वल नहीं होता जितना कि कामपीड़ित हो जाता है। वह तो खाना, पीना, सोना सब भूल जाता है। लज्जा भी लज्जित होकर भाग जाती है। वह कभी रोता, कभी नाचता, कभी गाता, कभी हंसता, कभी दीन होजाता, कभी क्रोध करता, अखाद्य खाता और नीच जनोंकी सेवा करता है। कहांतक कहा जाय? संसारमें जो भी न करने योग्य कार्य हैं सो भी करता है। वह कुलकी मर्यादा, धर्म आदिको जलांजुलि दे देता है, सदा चितावान् रहता है, शरीरसे कृश होजाता है, अनेक प्रकार राजदण्ड, पंचदण्ड भी भोगता है, तो भी विषयसे पराङ्मुख नहीं होता है।

तात्पर्य—काम इन्द्रियका विषय अन्य इन्द्रियोंके विषयोंसे अत्यन्त प्रबल है और अन्य इन्द्रियोंके विषय भी इसीमें गर्भित हो जाते हैं। इसीलिये इससे विरक्त होनेको ही ब्रह्मचर्य कहा है। इस-लिये सच्चे सुखाभिलाषी जीवोंको सदा उत्तम ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना चाहिये।

यद्यपि यह काम अत्यन्त प्रबल है कि जिसने तीन लोकके जीवोंको वश कर रक्खा है, तो भी यह न समझना चाहिये कि यह दुर्जेय या अजेय ही है। नहीं नहीं, यथार्थमें कायर जीवोंके लिये ही ऐसा है, किन्तु पुरुषार्थी वीरोंपर तो इसका कुछ भी वश नहीं चलता है। देखो, श्री नेमिनाथ भगवानने दीन जीवोंका दुःख देखकर ही सांसारिक विषयोंको छोड़ दिया था। उन्होंने देवांगना

तुल्य सती राजमतीको व्याहते २ छोड़ दिया था और राजमतीने स्वयं भी दीक्षा ग्रहण कर ली थी ।

भीष्मपितामहने अपने पिताके कारण ही आजन्म तक अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन किया था ।

अन्तिम केवली श्री जंबूस्वामी अपनी तुरन्तकी व्याही हुई चारों स्त्रियोंको रात्रिमें ही जीतकर तथा अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य्यसे च्युत न होकर प्रातःकाल दीक्षा ले गये थे ।

श्री ऋषभदेवकी दोनों पुत्रियां-ब्राह्मी और सुन्दरी कुमार अवस्थाहीमें संसारको त्याग कर दीक्षित हुई थी ।

इत्यादि और भी अनेक महात्मा जैसे भगवान् श्री पार्श्वनाथ, तथा श्री वर्द्धमान भगवान् आदिने इस कामको उत्पन्न होनेके पहले ही नाश कर दिया है । ऐसे दृढ़ व्रतको उत्तम ब्रह्मचर्य कहते हैं ।

जिनमें इतनी शक्ति नहीं है, वे अपनी पाणिग्रहण की हुई स्त्रीमें ही तथा पुरुषमें ही सन्तोष करते हैं, और प्राण जाते भी कभी अपने संकल्पसे नहीं हठते हैं ।

देखो, सेठ सुदर्शनको रानीने कितना फुसलाया, परन्तु उस वीरको कुछ भी विकार नहीं हुआ, जिससे उसके सत्यशीलव्रतके कारण सूलीका सिंहासन होगया था ।

सीताको रावणने कितना भय दिखाया, परन्तु धन्य वह वीर बाला ! उसके फंदेमें न आई, और अग्निकुण्डमें प्रवेश करके जन-साधारणको अपने सत्यशीलका प्रभाव प्रत्यक्ष दिखा दिया । सुखानंद, मनोरमा, रयनमंजूषा, द्रौपदी आदि अनेक सती नर-नारियोंके चरित्र

पुराणोंमें लिखे हुए हैं, जिनसे ब्रह्मचर्यकी अतुल महिमाका पता लग सकता है ।

यथार्थमें यही कारण था कि इस भारतभूमि पर पांडवादि जैसे महाबली तथा रामचन्द्रजी जैसे न्यायी, श्रेणिक जैसे सभाचतुर, अभय-कुमार जैसे दयालु, चेलना जैसी विदुषी, अंजनी जैसी पतिपरायणा, बाहुबलि जैसे परमतपस्वी उत्पन्न होकर अपने बल पराक्रमादि अतुल गुण, कला, चातुर्य्य, न्याय, रूपादिसे संसारको विस्मित करते हुए स्वर्ग-मोक्षको प्रयाण कर जाते थे ।

वास्तवमें संसारमें जितनी बुराइयां हैं, वे कामसे उत्पन्न होती हैं और इसके विपरीत सम्पूर्ण प्रकारके सद्गुण ब्रह्मचर्य्यसे प्राप्त होते हैं । इसी ब्रह्मचर्यके प्रभावसे पूर्व समयमें भारत धन, बल, विद्या, कला, चतुराई, सौंदर्य आदिमें सर्वापेक्षा चढ़ा-बढ़ा था । आज इसी पवित्र ब्रह्मचर्यके न रहनेसे इस देशपर अनेक प्रकारकी आपत्तियां आने लगी हैं, और यह रोगोंका घर बन गया है ।

इसलिये लौकिक तथा पारलौकिक सुखाभिलाषी जीवोंको उत्तम ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये ।

जो उत्तम पुरुष हैं, वे कभी ऐसे कुत्सित कार्यमें रक्त नहीं होते हैं । वे सोचते हैं कि यह शरीर जो सुन्दर सुकोमल दीखता है, इसके भीतर अस्थि, मांस, रुधिर, पीव, नसें, मल, मूत्र, शुक्र आदि घृणित पदार्थ भर रहे हैं । ऊपरसे केवल चमड़ेकी चादर लिपट रही है, जो सब ऐबोंको ढांके हुए है । इसके दूर होते अथवा रोगादिक होते ही इसकी सब पोल खुल जाती है और असली अवस्था प्रगट

हो जाती है, तब फिर इसकी ओर दृष्टि उठाकर देखनेको भी जी नहीं चाहता है ।

यह दण्डी साधु किसी सुशील स्त्रीपर आसक्त होकर उसके यहां भिक्षाके बहानेसे गया और अपनी कु इच्छा प्रगट की । स्त्री पतिव्रता और चतुर विदुषी थी । उसका पति घर नहीं था, इसलिये उसने सोच समझकर कहा—"महाराज! आज मैं ऋतुवती हूं, आप कल आइये ।" साधु दूसरे दिन आया, यहां उस स्त्रीने जर्राहको बुलाकर अपने शरीरमें कई जगह फस्तें खुलवा लीं और सब लोहू इकट्ठा एक वर्तनमें रख छोड़ा और दूसरे दिन उस असाधुके आते ही वह धीरे धीरे आई । जब साधुने उसे नहीं पहिचाना और कहा—"दासी। तू अपनी मालकिनको बुला ला ।" तब वह स्त्री बोली—"स्वामी महाराज! मैं ही वह स्त्री हूं ।" तब भी वह न माना । निदान स्त्रीने वह सब खून लाकर दिखाया और बोली—"महाराज! आपके जानेके बाद मैंने फस्तें खुलवाई हैं और सब लोहू यह रखा है। कल जो रूप देख आप मोहित हुए थे, वह सब इसी वर्तनमें है, इसलिये इसे ग्रहण कीजिये । साधु यह दशा देखकर लज्जित हुआ, और बोला—"तुम मेरी धर्मकी माता हो, यथार्थमें यह शरीर ऐसा ही घृणित और नाशवान् है । मेरा अपराध क्षमा कीजिये । अबसे मैं फिर कभी इस प्रकार दुष्ट कार्यका चिंतवन भी न करूँगा । तुमने मुझे आज डूबतेसे बचा लिया । मैं तुम्हारे इस उपकारका चिर कृतज्ञ रहूंगा ।" इत्यादि कहते हुए चल दिया ।

तात्पर्य—यह शरीर ही ऐसा घृणित व नाशवान् है, तो इसके

विषयसेवन करनेमें सुख कहां है ? केवल मूर्खजन ही सुख मानते हैं । कहा है—

" नारीजघनरन्ध्रस्थ,—विट्मूत्रमयचर्मणा ।
वाराह इव विड्भक्षी, हन्त मूढा सुखायते ॥"

इसीलिये यदि दुःखसे छूटना और सच्चा सुख पाना है, तो विषयोंसे रहित अपने स्वरूपका ध्यान करो, यही उत्तम ब्रह्मचर्य है।

वर्तमान समयमें तो इस ब्रह्मचर्य व्रतकी कैसी दुर्दशा इस समाजने की है जिसके कारण धर्म कर्म सबका मटियामेंट होगया है। एक ओर तो छोटे २ दुधमुंहे बच्चोंका विवाह प्रारम्भ कर दिया और दूसरी ओर वृद्ध बाबाने विवाह करके व्यभिचारका मार्ग खोल दिया। ब्राह्मण लोभी होगये, उन्होंने स्वार्थवश अर्थका अनर्थ कर दिया, खोटी पुस्तकें बना २ कर जगतका नाश कर दिया, ज्योतिषकी शीघ्र पुस्तकमें लिख दिया—" अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा च रोहिणी । दशवर्षा भवेत्कन्या ततो ऊर्ध्वं रजस्वला ॥ १ ॥ "

इत्यादि लिखकर लिख दिया कि जो दश वर्षसे ऊपर कन्या घरमें रखता है, उसको प्रतिमास १ बालक मारनेकी हत्याका पाप लगता है ! बस, लोग गाडरी प्रवाहमें बह गये, और यहांतक इन ब्रह्मगुरुओंके आज्ञापालक बने कि गर्भके बालकोंकी सगाई और माताका स्तन चूसते हुवे पालनेमें झूलते बच्चोंका विवाह (लग्न) करके आपको धन्य मानने, और बड़ी उमरमें होनेवाले सम्बन्धोंको घृणित समझने लगे। दूसरी ओर इन ब्रह्मगुरुओंने यह सुझाया— " अपुत्रस्य गतिर्नास्ति " बस, फिर क्या था। एक २ आदमी अनेक-

अनेक विवाह करने लगे। और " साठ नाठ भी पाठे बन गये " अर्थात् ६१ वर्षके बूढ़े वर बन बनकर बेचारी कन्याओंका भाग्य फोड़ने और उनको विधवा बनाने लगे। उन्होंने इस बातपर पानी डाल दिया कि शुक्रोदयके पश्चात् और शुक्रास्तसे पहिले पहिले ही विवाह सम्बंध तथा स्त्री समागम करना चाहिये। अर्थात् जब पुरुषोंका २० या २५ वर्षके बाद और कन्याओंका १६ वर्षके बाद शुक्रोदय (वीर्य परिपक्व) होजाय तबसे लेकर करीब ४० वर्षकी अवस्था तक शुक्रास्त (वीर्य क्षीण) होनेसे पूर्वतक ही सम्बंध योग्य होता है इत्यादि। ब्राह्मणोंने भी लोभसे चट इस (शुक्रोदय और शुक्रास्त) का अर्थ बदलकर शुक्र नामके नक्षत्रका उदय और अस्तका अर्थ बतला दिया कि—"कार्तिक माससे शुक्र तारेका उदय होता है और आषाढ़में उसका अस्त होजाता है, इसलिये कार्तिकके बाद आषाढ़ तक ही लग्न करना चाहिये इत्यादि। बस, भोले तथा विषयी जीव ठगाये गये।

इस बातका १ प्रमाण ही बस होगा कि यदि आषाढ़के बाद कार्तिक तक लग्नादि सम्बन्ध अयोग्य होते तो भगवान् श्री नेमिनाथ (तीर्थंकर) के विवाहका समारम्भ कैसे श्रावण मासमें होता? और कैसे वे तोरणसे रथ फेरकर श्रावण सुदी ६ को गिरनार गिरिके शेसावनमें दीक्षा लेते? इत्यादि बातोंसे स्पष्ट है कि ये झूठे पचड़े अर्थका अनर्थ करके इन लोभी ब्राह्मणोंने ज्योतिष आदिका भय बताकर लोगोंके पीछे लगा दिये और खूब द्रव्य ठगने लगे, तथा इन भोले जीवोंका ब्रह्मचर्य्य नष्ट कर सत्यानाश कर दिया।

विद्यार्थियोंका तो यह बाल्यविवाह पूर्ण शत्रु बन गया। यह

ज्ञान, विवेक, विद्या तथा सदाचारको तो जड़मूलसे उखाड़ फेंकता है। एक कविने कहा है कि—

तब तक ही विद्या व्यसन, धीरज अरु गुरुमान ।
जब तक वनिता नयन विष, पैठा नहिं हिय आन ॥१॥

इतने हीसे इतिश्री नहीं हुई, परन्तु लोगोंने आगे और भी अनाचारमें पग फैलाये। उन्होंने वेश्या तथा पर वनिताओं तथा परपुरुष सेवन भी आरम्भ कर दिया, जिससे अनाचार तो फैला ही किन्तु बल, वीर्य और सम्पत्तिका भी सर्वनाश होगया, अनेकों रोग संसारमें फैल गये, मार, काट व ईर्षाभाव बढ़ गया। हजारों मृत्यु केवल इसी पापसे संसारमें होती हैं। यह तो निश्चित ही है कि कोई भी पुरुष अपने संबंध रखनेवाली तथा स्वविवाहित स्त्रीकी ओर किसी अन्य पुरुषकी दृष्टि होना मात्र भी नहीं सह सकता है परन्तु खेद तो यह है कि वह उपर्युक्त बात परकी स्त्रीके संबंधमें भूल जाता है। इसी पापसे सर्वस्व खोगया और खो जायगा। किसी कविने कहा है—

जाही पाप इन्द्रकी सहस्रभग देह भई,
जाही पाप चन्द्रमें कलंक आय छायो है।
जाही पाप रातिके वगती शिशुपाल भगो,
जाही पाप कीचकको कोच ठहरायो है॥
जाही पाप रामने हतो थो राय बालीको,
जाही पाप भस्मासुर हाथ दे जरायो है।
जाही पाप रौना (रावण) के न छौना रहो भौना मांहि,
सो ही पाप लोगन खिलौना कर पायो है॥

इसलिये इस ब्रह्मचर्य्यके घातक बाल्यविवाह, बहुविवाह, वृद्धविवाह और पुनर्विवाहको सर्वथा जलांजुलि देकर, वेश्या और परदाराका भी त्यागकर अच्छा तो यह है कि समस्त स्त्री मात्रका त्याग करके उत्तम ब्रह्मचर्य्य धारण करें, और यदि जो कोई ऐसा करनेमें असमर्थ होवें, उनको स्वदारसन्तोषव्रत ही मन, वचन, कायसे पालन करना चाहिये। इसीको कहते हैं—

शील बाढ नव राख, ब्रह्म भाव अन्तर लखो।
कर दोनों अभिलाष, करो सफल नरभव सदा॥
उत्तम ब्रह्मचर्य्य मन आनो, माता बहिन सुता पहिचानो।
सहे बाण वर्षा बहु सूरे, टिके न नयन बाण लख कूरे॥
कूरे त्रियाके अशुचि तनमें काम रोगी रति करें।
बहु मृतक सड़े मशान माहीं काक जिम चोंचें भरै॥
संसारमें विषवेलि नारी तज गये जोगीश्वरा।
द्यानत धरम दश पैंड चढ़के शिवमहलमें पग धरा॥१॥

धर्म–फल।

अब अन्तमें दशलक्षण धर्मके फलको दर्शाते हुए जयमाल कहते हैं—

दश लक्षण वन्दूं सदा, भाव सहित सिर नाँय।
कहूं आरती भारती, हम पर होहु सहाय॥

उत्तम क्षमा जहां मन होई। अन्तर बाहर शत्रु न कोई॥१॥
उत्तम मार्दव विनय प्रकाशे। नाना भेद ज्ञान सब भाषे॥२॥
उत्तम आर्जव कपट मिटावे। दुर्गति त्याग सुगति उपजावे॥३॥

उत्तम सत्य वचन मुख बोले । सो प्राणी संसार न डोले ॥४॥
उत्तम शौच लोभ परिहारी । सन्तोषी गुण रत्न भंडारी ॥५॥
उत्तम संयम पाले ज्ञाता । नरभव सफल करे लहि साता ॥६॥
उत्तम तप निर्वांछित पाले । सो नर कर्म-शत्रुको टाले ॥७॥
उत्तम त्याग करे जो कोई । भोगभूमि सुर-शिव-सुख होई ॥८॥
उत्तम आकिंचन व्रत धारे । परम समाधि दशा विस्तारे ॥९॥
उत्तम ब्रह्मचर्य्य मन लावे । नर सुर सहित मुकति फल पावे ॥१०॥

करे कर्मकी निर्जरा, भव पींजरा विनाश ।
अजर अमर पदको लहे, 'द्यानत' सुखकी राश ॥

दशों दिवसोंके दश जाप्यमंत्र ।

ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्भूताय उत्तमक्षमाधर्मांगाय नमः ॥१॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, मार्दव ,, ॥२॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, आर्जव ,, ॥३॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, सत्य ,, ॥४॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, शौच ,, ॥५॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, संयम ,, ॥६॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, तप ,, ॥७॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, त्याग ,, ॥८॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, आकिंचन्य ,, ॥९॥
ॐ ह्रीं ,, ,, ,, ,, ब्रह्मचर्य्य ,, ॥१०॥

इसप्रकार उत्तम क्षमा, मार्दव आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंका संक्षिप्त वर्णन किया।

कह्यौ भाव दश धर्मको, 'दीप' बुद्धि अनुसार ।
भूल चूक कछु होय तो, बुध जन लेहु सुधार ॥

श्री दशलक्षणधर्मके सवैये ।

पंच जिनेन्द्र धरूं मनमें जिस नाम लिये सब पातक भाजें ।
शारद मात प्रणाम करूँ जिस हस्त कमण्डलु पोथी विराजें ॥
गौतम पाय नमूँ मन शुद्ध सु अंग उपांग बखाणहि गाजे ।
सद्गुरुको उपदेश सुनो हम धर्म सदा दशलक्षण छाजे ॥१॥

(१) क्षमा।

केवल एक क्षमा विन ही तप संयम शील अकारथ जानो ।
पाक सुपाक बनो सुधरों जैसें नौंन विहीन अनाजको खानो ॥
देव जिनेन्द्र कहे जगमें, जन तारणको यह वाहन जानो ।
'ज्ञान' कहे नर अन्तर सूझत सार क्षमा दश लक्षण रानो ॥१॥

(२) मार्दव।

मार्दव भाव न आवत ज्योंलग त्योंलग धर्म कहां उपजावें ।
भाव कठोर रहे घट भीतर नूतन पाप संयोग बढ़ावें ॥
आरंत रौद्र वसे उसके मन पापसे निश्चय दुर्गति पावें ।
'ज्ञान' कहे मृदुभावके धारक फेर कभी जगमाहिं न आवें ॥२॥

(३) आर्जव ।

आर्जव भाव धरे मनमें जिससे भव नाशके मोक्ष सिधारे।
डूबत जो भवसागरमें तिस हाथ पकड़ भवपार उतारे ॥
संपत देन उदार बड़ा, यह आर्जव कर्मको मान विदारे।
'ज्ञान' कहे वह मूढ़ बड़ा भव मानव पाय न आर्जव धारे ॥३॥

(४) सत्य ।

सत्य नहीं जिसके घट भीतर सो नर क्यों गिनतीमें गिनाये।
राय वशु जग देखत डूब गयो गति नर्क महा दुख पाये ॥
झूठ बसे जिसके मुखमें जगमें नर ते नरके हि समाये।
'ज्ञान' कहे भवतारनको नौका नहिं अन्य जु सत्य विना ये ॥४॥

(५) शौच ।

शौच खरो जिय लोभ त्यजन मन शुद्ध रहे परमारथ केरो।
इन्द्रिय पंच रहें अपने वश कर्म कषायको पाड़त घेरो ॥
मंत्र स्नान करें मुनिपुंगव, पावत नाहिं संसारको फेरो।
'ज्ञान' कहे जग शौच यही दृग ज्ञान चरण परमारथ हेरो ॥५॥

(६) संयम ।

संयम दोऊ कहे जिनराजने संयमसे शिव मारग लहिये।
पाप लगे, सब संयमसे हर, कर्म कठोर कषाय दहीजे ॥
संयमसे भवपार तरे नर संयम मुक्ति-सखा जग कहिये।
'ज्ञान' कहे लहि मानवदेह विना शुभ संयम कैसेके रहिये ॥६॥

(७) तप ।

दुर्धर कर्म गिरींद्र गिरावन वज्र समान महातप ऐसो ।
बारह भेद भणंत जिनेश्वर पाप पखालन पानीय जैसो ॥
दुःख विहंडण सौख्य समप्पण पंच हि इन्द्रिय रक्षण तैसो ।
'ज्ञान' कहे तपस्या विन जीव जो मोक्ष पदारथ पावत कैसो ॥७॥

(८) त्याग ।

दान बड़ा जगमें नरको शुभ दानसे मान लहे जग मानव ।
भूप दयाल भये सबको अरि मित्र भये अरु सेवत दानव ॥
दानसे कीर्ति बढ़े जग भीतर दान समान न और कहा नव ।
'ज्ञान' कहे भवपार उतारण दान चतुर्विध सार कहो तव ॥८॥

(९) आकिंचन्य ।

आलस अंगसे दूर करी कर नाम अकिंचन अंग धरावो ।
आलजंजाल तजो घटसे मन शुद्ध करो समता घर आवो ॥
जप तीर्थ करी फल इच्छित हो, तिस मूल भये फल किंचित् पावो ।
'ज्ञान' कहे नरको सुखदायक शुद्ध मने परमारथ ध्यावो ॥९॥

(१०) ब्रह्मचर्य ।

शील सदा नरको सुखदायक शील समान बड़ो नहिं कोई ।
शील फले भई शीतल पावक, सीताको जग देखत होई ॥
सेठ सुदर्शन शूली सिंहासन, शील भले भव साधत दोई ।
'ज्ञान' कहे नर सोहि विचक्षण जो नर पालत शील समोई ॥१०॥

श्री दशलक्षणव्रत-कथा।

प्रथम वंदि जिनराजको, शारद गणधर पाय।
दशलक्षणव्रतकी कथा, कहूं सबहि सुखदाय ॥ १ ॥
विपुलाचल श्रीवीर कुँवार, आये भवभंजन भरतार।
सुन भूपति तहं वंदन गयो, सकल लोक मिलि आनंद भयो ॥२॥
श्रीजिन पूजे मन धर चाव, स्तुति करी जोड़कर भाव।
धर्मकथा तहं सुनी विचार, दान शील तप भेद अपार ॥ ३ ॥
भवदुख क्षायक दायक शर्म, भाषो प्रभु दशलक्षण धर्म।
ताको सुन श्रेणिक रुचि धरी, गुरु गौतमसे विनती करी ॥ ४ ॥
दशलक्षणव्रत कथा विशाल, मुझसे भाषो दीनदयाल।
बोले गुरु सुनि श्रेणिक चन्द्र, दिव्यध्वनि कही वीर जिनेन्द्र ॥५॥
खण्ड धातुकी पूरव भाग, मेरुथकी दक्षिण अनुराग।
सीतोदा उपकंठी सही, नगरी विशालाक्ष शुभ कही ॥ ६ ॥
नाम प्रीतंकर भूपति वसे, प्रियंकरी रानी तसु लसे।
मृगांकरेखा सुता सुजान, मतिशेखर नामा परधान ॥ ७ ॥
शशिप्रभा ताकी वरनार, सुता कामसेना सुखकार।
राजसेठ गुणसागर जान, शीलसुभद्रा नारि वखान ॥ ८ ॥
सुता मदनरेखा तसु खरी, रूप कला लक्षण गुण भरी।
लक्षभद्र नामा कुतवाल, शशिरेखा नारी गुणमाल ॥ ९ ॥

कन्या तास घरे रोहनी, ये चारों वरणी गुरु तनी ।
शास्त्र पढ़ें गुरु पास विचार, स्नेह परस्पर बढ़ो अपार ॥१०॥
मास वसन्त भयो निरधार, कन्या चारों वनहिं मँझार ।
गई मुनीश्वर देखे तहाँ, तिनको वन्दन कीनो वहाँ ॥११॥
चारों कन्या मुनिसे कही, त्रिया-लिंग ज्यों छूटे सही ।
ऐसा व्रत उपदेशो अबै, यासे नर तन पावें सबै ॥१२॥
बोले मुनि दशलक्षण सार, चारों करो होहु भवपार ।
कन्या बोलीं किम कीजिये, किस दिनसे व्रतको लीजिये ॥१३॥
तब गुरु बोले वचन रसाल, भादों मास कहो गुणमाल ।
अरु पुनि माघ चैत्र शुभ मान, तिनके अंतिम दिन दश जान ॥१४॥
धवल पंचमी दिनसे सार, पूनम तक कीजे शुभ सार ।
पंचामृत अभिषेक उतार, जिन चौबीस तनी उर धार ॥१५॥
पूजार्चन कीजे गुणमाल, आरति कर नमिये निजभाव ।
उत्तम क्षमा आदि गुणसार, दशमो ब्रह्मचर्य उर धार ॥१६॥
पुष्पांजलि इस विधि दीजिये, तीनों काल भक्ति कीजिये ।
इस विधि दश वासर आचरो, नियमित व्रत शुभ कारज करो ॥१७॥
उत्तम दश अनशन कर योग, मध्यम व्रत कांजीका भोग ।
भूमि शयन कीजे दश राति, ब्रह्मचर्य पालो सुख पाति ॥१८॥
जपो दिवस दशकी दश जाप, जासों होंय नाश सब पाप ।
तीन काल सामायिक करो, जिन आगम गुरु श्रद्धा धरो ॥१९॥

इस विधि दशों वर्ष जब जाँय, तब तक व्रत कीजे धर भाय।
फिर व्रत उद्यापन कीजिये, दान सुपात्रोंको दीजिये॥
औषधि, अभय, शास्त्र, आहार, पंचामृत अभिषेक हि सार।
मंडल मांड पूजा कीजिये, छत्र चमर आदिक दीजिये ॥२१।
उद्यापनकी शक्ति न होइ, तो दूनो व्रत कीजे लोइ।
संचे पुण्यतनो भंडार, परभव पावे शिवपुर द्वार ॥२२॥
तब चारों कन्या व्रत लियो, मुनिवर भक्तिभाव लखि दियो।
यथाशक्ति व्रत पूरण करो, उद्यापन विधिसे आचरो ॥२३॥
अन्तकाल वे कन्या चार, सुमरण करो पंच नवकार।
चारों मरण समाधिसु कियो, दशवें स्वर्ग जन्म तिन लियो ॥२४॥
षोड़श सागर आयु प्रमाण, धर्मध्यान सेवें तहां जान।
सिद्धक्षेत्रमें करें विहार, क्षायक सम्यक् उदय अपार ॥२५॥
सुभग अवन्ती देश विशाल, उज्जयनी नगरी गुणमाल।
स्थूलभद्र नामा नरपती, नारी चारु सो अतिगुणवती ॥२६॥
देव गर्भमें आये चार, ता रानीके उदर मंझार।
प्रथम सुपुत्र देवप्रभु भयो, दूजो सुत गुणचन्द्र ही कहो ॥२७॥
पद्मप्रभ तीजो बलवीर, पद्मसारथी चौथो धीर।
जन्म महोत्सव तिनको करो, अशुभ दोष गृहको सब हरो ॥२८॥
निकलप्रभा राजाकी सुता, ते चारों परणी गुण युता।
प्रथम सुता सो ब्रह्मी नाम, दुतिय कुमारी सो गुणधाम ॥२९॥

रूपवती तीजी सुकुमाल, सुता तूर्य मृगाक्ष गुणमाल ।
कर व्याह घरको आइयो, सकल लोक घर आनंद लियो ॥३०॥
स्थूलभद्र राजा इक दिना, भोग विरक्त भयो भवतना ।
राज पुत्रको दीनो सार, वनमें जाय योग शुभ धार ॥३१॥
तप कर उपजो केवल-ज्ञान, वसु विधि हनि पायो निर्वाण ।
अब वे पुत्र राजको करें, पूर्व पुण्य फल सुख सब करें ॥३२॥
चारों बांधव चतुर सुजान, अहि निशि धरें धर्म शुभध्यान ।
एक समय बिरक्त सो भये, आतम कार्य चितवत ठये ॥३३॥
चारों बांधव दीक्षा लई, वनमें जाय तपस्या ठई ।
निज मनमें चिद्रूपाराधि, शुक्लध्यानको पायो साधि ॥३४॥
सर्व विमल केवल ऊपनो, सुख अनन्त तब ही सो ठनो ।
करो महोत्सव देवकुमार, जय २ शब्द भयो तिहिंवार ॥३५॥
शेष कर्म निर्बल तिन करे, पहुँचे मुक्तिपुरीमें खरे ।
अगम अगोचर भवजल पार, दशलक्षण व्रतको फलसार ॥३६॥
वीर जिनेश्वर कही सुजान, शीतल जिनके बाड़े मान ।
गौतम गणधर भाषी सार, सुन श्रेणिक आये दरबार ।३७॥
जो यह व्रत नरनारी करे, ताके गृह सम्पति अनुसरे ।
भट्टारक श्रीभूषणवीर, तिनके चेला गुणगम्भीर ॥३८॥
ब्रह्मज्ञानसागर सुविचार, कही कथा दशलक्षण सार ।
मन, वच, तन, व्रत पाले जोई, मुक्ति वरांगना भोगे सोई ॥३९॥

॥ इति श्रीदशलक्षणव्रतकथा सम्पूर्णम् ॥

प्रशस्ति।

इक मध्य प्रांतके मध्य जान। नरसिंहपुर नग्र कहो बखान॥
तहं बने जैनमंदिर विशाल। दर्शनसे मन होवे खुशाल॥
तहं बसैं जैनधर्मी सुधीर। परवार वंश्य अति गुण गहीर॥
तिन मांहि गण्य दरयावलाल। सुत जये कुंज मन नाथूलाल॥
पुनि नाथूरामके सुत सु चार। वर दीपचन्द्र जेठे कुमार॥
अरु कालूराम छोटे सु लाल। भूपेन्द्र कुंवर सब ही खुशाल॥
निज मात मरण लख दीपचन्द। हो विरति धरे व्रत श्री जिनेन्द्र॥
श्रावक प्रतिमा सप्तम सुजान। सुत किसनदासके तृतीय मान॥
श्री मूलचन्द इन कही जोय। लिखिये दशधर्म स्वरूप सोय॥
व्रतधारी जे नरनारि होय। पढ़ि हैं व्रत दिवसोंमें जु सोय॥
यह सुन वर्णी वृष-बुद्धि धार। संक्षिप्त कथन कर श्रुताधार॥
यह लिखो लेख निज धी प्रमान। नहि ख्याति लाभकी चाह आन॥
यह जैन धर्म आगम अपार। तामें दश लक्षण धर्म सार॥
सो अल्प बुद्धि वरणो बनाय। बुधजन शुध कीजे भूल पाय॥
संवत् श्री वीरजिनेश सार। चौबिस सौ चालिस शुभ सुधार॥
पर्यूषण व्रत दश धर्म सार। पूरन कीनो हित स्वपर धार॥
जो भविजन पढ़ि हैं चित लगाय। अरु करि हैं व्रत मन वचन काय॥
सो लहि हैं सुर नर सुःख सार। अनुक्रम पावेंगे मुक्ति द्वार॥
तासे भो भविजन! हृदय आन। व्रत पालो कथा पढ़ो सुजान॥
धारो वृष जिनवर कथित सार। ज्यों दीपचन्द्र भव लहो पार॥

॥ इति ॥

दशधर्म-भजन ।

(श्री० स्व० पूज्य ब्र० सीतलप्रसादजी कृत)

धर्म दश हैं मेरे घट में,
इन्हें जानो अमर हो लो ।
परम सुख शांतिकी छायामें,
वसके नित अमल हो लो ॥ टेक ॥
यहीं उत्तम क्षमा मार्दव,
यहीं आर्जव यहीं सत है ।
यहीं है शौच हितकारी,
परम संयमसे मल धो लो ॥ १ ॥
यहीं तप त्याग आकिंचन,
यहीं ब्रह्मचर्य गुण-पूरण ।
कहनको दश हैं एक ही ये,
निजातम मय इन्हें तो लो ॥ २ ॥
तू आपेमें मगन हो जा,
न कुछ कर राग कुलटाई ।
सही वैरागकी शक्ति से,
अपनी शान सम कर लो ॥ ३ ॥
उचित भवदधि से तर जाना,
जहां हर दम असाता है ।
सुखोदधि में मगन होकर,
परम अमृत सदा चख लो ॥ ४ ॥

अथ
दशलाक्षणिक व्रतोद्यापनम् ।

विमलगुणसमृद्धं ज्ञानविज्ञानशुद्धं ।
अभयवनसमुद्रं चिन्मयूखप्रचण्डं ॥
व्रतदशविधधारं संजये श्रीविपारं ।
प्रथमजिनविदक्षं सद्व्रताढ्यं जिनेशम् ॥ १ ॥
दशलक्षणकं सारं व्रतं सद्व्रतमुत्तमम् ।
प्रसंक्षेपोद्यापनं वक्ष्ये यथा जातं जिनेश्वरात् ॥ २ ॥
आदौ गर्भगृहे पूजा क्रियते सद्बुधोत्तमैः ।
जिननामावलि[1] शुद्धां सकीलकरणादिकं ॥ ३ ॥
सन्मंडपप्रतिष्ठा च पठ्यते पण्डितोत्तमैः ।
नानाशास्त्रान्वितैः धीरैः कलागुणविराजितैः ॥ ४ ॥
शतकमलसमूहं वर्तुलाकारचक्रं ।
भवशतभजनाशं सर्वमोक्षप्रचक्रं ॥
परमगुणनिधानं सद्व्रतौघप्रधानं ।
विविधकुसुमवृन्दैः शुद्धयंत्रं क्षिपामि ॥ ५ ॥
ॐ ह्रीं भाविकसद्यसानिध्य शतकमलोपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत् ।

स्तोत्रं ।

सुव्रताय नमो लोके दशधाय जिनोदिते ।
व्रतेशिने गुणौघाय मोक्षसाधनहेतवे ॥ १ ॥

१–सहस्रनाम ।

उत्तमक्ष्माधीशाय मार्दवांगाय नमोनमः ।
आर्जवांगाय महांगाय जिनाधीशप्रमोदिते ॥ २ ॥
सुशौचाय गुणौघाय विविधर्द्धिप्रदायिने ।
प्रसत्याय सुदान्ताय पट्खण्डपददायिने ॥ ३ ॥
संयमाय दयांगाय पापतापविनाशिने ।
कायक्लेशप्रयुक्ताय द्विषड्भेदप्रकाशिने ॥ ४ ॥
महात्यागप्रयुक्ताय सदंगाय नमोनमः ।
लसद्गुणसमूहाय पापध्वंसनहेतवे ॥ ५ ॥
सर्वसंगविमुक्ताय स्वाकिंचन्यपरात्मने ।
विश्वसौख्यप्रदानाय नमः स्वर्गप्रदायिने ॥ ६ ॥
ब्रह्मचर्याय स्वांगाय विश्वधर्मगुणेशिने ।
प्रभवमारध्वंसाय दशधर्मप्रकाशिने ॥ ७ ॥
महादुःखप्रहंतारं मुक्तिसंगमकारिणं ।
स्थापयामि वृषाधीशं चक्रवर्तिपुराकृतं ॥ ८ ॥
अकलंकं गुणभद्रं समन्तभद्रं परं तु जिनचंद्रं ।
विद्यानन्दिमुनीन्द्रं सुमतिसमुद्रं जिनं नौमि ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिकाग्रे पुष्पाक्षतं क्षिपेत् ।

अर्हंतमीशमनवद्यमनन्तबोध-
मक्रोधमानमनसं शिरसा प्रणम्य ।
आह्वाननं स्थितिसमीपकृतादिपूर्व-
धर्मं शिवाय दशलाक्षणिकं यजामि ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुद्भूतदशलाक्षणिकधर्म अत्र अवतर अवतर

संवौषट् (आह्वाननं), ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुधृत दशलाक्षणिकधर्म अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं), ॐ ह्रीं अर्हन्मुखकमलसमुधृत दश-लाक्षणीकधर्म अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं)।

सोमाढ्यवां सुरसरितप्रमुखश्रवन्तीं
पद्मादिनिर्मलसरः शुचिवारिधारां।
सारां तुषारकिरणायमुहु र्ददेऽहं
धर्माय शर्मनिधये दशलक्षणाय ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुखसमुधृताय दशलाक्षणिकधर्माय जलं ॥ १ ॥

श्रीचंदनेन कृमिजगंधयुतेन चन्द्र
मिश्रेण सारतरलोहितचंदनेन।
भ्रूविभ्रमभ्रमरभारभरेण भक्त्या
धर्मं सुखाय दशलक्षणमर्चयामि ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुखसमुधृताय दशलाक्षणिकधर्माय चन्दनं० ॥२॥

पुण्यप्ररोहनिवहैरिव शुक्लसारैः।
स्फारस्फुरित्परिमलैरिवकुन्दवृन्दैः॥
शाल्यक्षताक्षतचयैर्दशधा जिनोक्तं।
धर्मं विमुक्तिपदशर्मकृतेऽर्चयामि ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं० अर्हन्मुख० अक्षतान्० ॥ ३ ॥

सच्छीतपुष्पसुभगैः सुमनःसुगन्धैः।
सत्केतकीसुरभिगंधयुतप्रधानैः।
पद्मोत्पलादिभिरपि प्रवरप्रसूनैः।
श्रीजिनधर्ममद्य शर्ममिदं भजामि ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुख० पुष्पं० ॥ ४ ॥

सोमालिकासघृतफेनकस्वादखाद्यैः ।
सन्मोदकैर्वटकमंडकघार्तपूरैः ॥
अन्यैरनेकरचनैश्चरुभिर्जिनोक्तं ।
सूक्तामृतैरिव वृषं मधुरैर्महामि ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुख चरुं० ॥ ५ ॥

हैयंगवीनहिमरश्मिसुगंधतैल ।
माणिक्यमण्यरुचिभूरितरप्रदीपैः ॥
मिथ्याकुबोधकुचरित्रतमोविनाशं ।
धर्मं यजे जगदनिंद्यपदेऽर्चयामि ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुख० दीपं० ॥ ६ ॥

गोशीर्षकुमिजग्मसुरेन्द्रदारु ।
कर्पूरयावनलवंगजटादिमिश्रं ॥
धूपं ददामि मदनारिविनाशहेतोः ।
धर्माय कर्मकरिकेसरिणे शुभाप्त्यै ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुख० धूपं० ॥ ७ ॥

श्रीमत्कपित्थकरकक्रमुकाम्रजंबु,
जंबीरकंटकीफलोत्तमनालिकेरैः ।
कुष्माण्डकाम्रकदली वरबीजपूरैः
संपूजयामि जिनधर्ममनल्पसिद्धैः ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मुख० फलं ॥ ८ ॥

अमलकमलगन्धैस्तन्दुलैः पाण्डुखण्डैः
प्रसवचरुभिरुच्चैर्दीपधूपप्रसूनैः।
अथ कुन(थ)शत? पत्रैस्वस्तिकाद्यैर्ददेऽहं
रचितमुचितमस्मै जैनधर्माय वार्घं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं अर्हन्मु० अर्घं ॥ ९ ॥

अथ जयमाला।

घत्ता।

धम्मालयसारं लक्खणभारं
दहलक्खण लक्खण सहियं।
दह दिणसुहकारणामविपारं
अक्खमिजह जिणवर कहियं ॥ १ ॥

पंचमीदिण जिणणाम सुकहियं
सुज्जकिरण उत्तमखमसहियं।
छट्टिदिणचन्द किरणगुण भरियं
मद्दवसहियसुपोसह महियं ॥ २ ॥

सत्तमीदिणमणिकिरण विसालं
अज्जव सहपण सुहसह भालं।
अट्टमि धम्मरयण गुणमालं
सव्ववयाण लहियं जगपालं ॥ ३ ॥

णममी बोहरयण पुज्जिजइ
सोचसंगसिरि जिणवर गिज्जई।

दहमी अभयरयण जाणिज्जइ
संयमसहियजिणिंद भणिज्जइ ॥ ४ ॥
एकादहीमणिकुण्डल णिम्मल
परतव सहक्किज्जइतप विमल ।
बारसि चिंतारयणसमुज्जल
दाण सुपत्तहं दिज्जइ सुहजल ॥ ५ ॥
तेरसि लोयतिलय महिमायर
आकिंचणगुण सहियं गुणभरं ।
चौदसिबंभ तिलयमहि मणोहर
बंभचेरगुण भरिओ सुहकर ॥ ६ ॥
णाम सहिय सुदिण दह लक्खण
पुव्वंकिय भरहेण सुलक्खण ।
बाहुवलेण सुकीय सुविचक्षण
सिरिजयकुमर लहियफलदक्खण ॥ ७ ॥
महाबल लोहजंग वयधारी
रयणं गदरथणप्पहकारी ।
अजितं जय जय विजयमणोहर
ललियंगउ वज्जंगउ वयकर ॥ ८ ॥
चिंतागइण होइ मणोगइ
अमितगइ तह कियउ चपलगइ ।
मणोवेग वय धरिउ चपलगइ
विज्जकुमर चितंगकुमरनइ ॥ ९ ॥

भाण सुभाणकिय उवयमुत्तम

पयापाल महीपाल सुसत्तम।

कियउ अणंतपाल पुरुसोत्तम

थणवइ धणपालेण मणोत्तम ॥ १० ॥

भविसकुमर सिरिकुमर सुसारं

वज्जकुमर श्रीपाल सुधारं।

कंठ सुकंठ णरिंद भारं

घोस सुघोस गमा वयपारं ॥ ११ ॥

एवं णरणारी वय सुंदर

पव्विकिय गय मोक्खसुमंदिर।

कहिय जिणिंद दिव्वधुणि मंदिर

भविय सणाण लहइ सोमंदिर ॥ १२ ॥

जे णरणारी भणइ जयमाला

लहु ते पावइ सुह परिमाला।

मुक्ति रमणी गल कंदल माला

णासइ भवमय दुक्खह माला ॥ १३ ॥

अभय चंद मुणि जय मणोहारा

वंदित अभयनन्दि जयकारा।

घत्ता।

वंदित सुरसागर, मुणिगण सागर, सागरसुख तरंगभर।

सिरि सुमइ सुसागर, जिणगुणसागर, सागर केवल परमपद (२)

ॐ ह्रीं दशलाक्षणिक धर्मेभ्यो महार्घ।

अथ प्रत्येक पूजा ।

मसुरीदशमहीकायरक्षणे शुद्धमानसः ।
सचित्तधरण्यां पादं न ददात्यर्चते सदा ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं सप्तलक्षमहाकायरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ॥ १ ॥

सर्वजीवहितागारं मुनीन्द्रं गुणशालिनं ।
क्षमासद्धर्मगेहं वा चर्चे वीतपरिग्रहं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं सर्वजीवरक्षणोत्तमक्षमाय जलं० ॥ २ ॥

अंबुविन्दुसमं गात्रं जलकायसुरक्षकं ।
वसुद्रव्यपरैः शुद्धैः संयजामि दमीश्वरं ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं जलकायरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ॥ ३ ॥

सूचिकाग्रसमं कायं वह्निजीवसुरक्षकं ।
महासिद्धान्तवेत्तारं संजये ऋषिपं मुदा ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं अग्निजीवरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ॥ ४ ॥

ध्वजाकायसमं देहं वातकायसुरक्षकं ।
ज्ञानविज्ञानवाराशि महामि यतिनायकं ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं वातकायरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ॥ ५ ॥

अनेकवृक्षजीवानां दशलक्षविशारदं ।
अनेककायजीवानां वै पालकं तं यजाम्यहं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं वनस्पतिकायरक्षणोत्तमक्षमाय अर्घं० ॥ ६ ॥

नित्यनिकोतजीवानां मेकरज्जुप्रपालकं ।
तं क्षमागारकं चर्चे जलचंदनतंदुलैः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं नित्यनिकोतरक्षणोत्तमक्षमाय अर्घं० ॥ ७ ॥

इतरनिकोतजीवग्रमहप्रतिपालकं ।
मुनीन्द्रं गुणवाराशिं पूजयामि दमीश्वरं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं इतरनिकोतभवजीवरक्षणोत्तमक्षमाय अर्घं० ॥ ८ ॥

विकलेन्द्रियत्रयो भेदं जीवराशिप्रपालकं ।
गंभः चन्दनशालीयैः महामि भवघातकं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं विकलेन्द्रियत्रयभेदजीवरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ।

गर्भोद्भवजीवानां पालकं सुयतीश्वरं ।
पंचेन्द्रियप्रतान्तं वा रक्षकं प्रयजे सदा ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं पंचेन्द्रियजीवरक्षणोत्तमक्षमाय जलादिकं० ॥१०॥

जलचंदनशालीयैः पुष्पनैवेद्यदीपकैः ।
धूपफलभरैश्चाये प्रथमांगं क्षमाधिकं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमाय महार्घं निर्वपामि स्वाहा ।

अथ जयमाला ।

उत्तमक्षमा सु आदिजिनेश्वर, भरतेश्वर वर बाहुबली ।
अनन्तवीर्य श्रीवृषभसेन धरि, उत्तम पुरुष सौभाग्यकरी ॥ १ ॥
दया सहित गुणवंत क्षमालय, क्षमाजल क्रोधाग्नि सर्व टालय ।
जीवभेद क्षमागुण करि पालय, शील सुलक्षण क्षमा सुखालय ॥२॥
ध्यान धरे क्षमारक्षण शुद्धा, ज्ञानवंत मुनि क्षमा प्रसिद्धा ।
प्रथम क्षमा श्रीचरणभूषण, क्षमाबल मुनिवर गत बहुदूषण ॥ ३ ॥
क्षमाथकी क्रोधवैरी निबला, क्षमाथकी धर्मध्यान सु सबला ।
क्षमामान मोडेमान रिपुभर, क्षमायोग योगीश्वर शुभपर ॥४॥

क्षमा करे माया गुणफलहर, क्षमा लौभवैरी विषविषहर ।
क्षमा ऋद्धिदाता मुनि जसकर, क्षमाबीजकरि भव्य सुभवपर ।।५।।
क्षमा मोक्ष रानी सुसहेली, क्षमा सिद्ध नर-सती महेली ।
क्षमा कर्मनर भक्षण देवी, क्षमा सुमुनिवर चरण सुसेवी ।। ६ ।।
क्षमा क्रियाणक देश विशाले, क्षमा क्रियाणक हृदमाले ।
श्री जिण गणधर नर मुनिवर, विक्रय कर इसु लेइ भव्यवर ।।७।।

घत्ता ।

क्षमाधर्म जिनपुत्र धुरंधर, मोक्षनगर व्यापार करे ।
श्रीअभयनंदि जिन क्षमा मनोहर सुमतिसागर जिन धर्म धरे ।।८।।
ॐ ह्रीं उत्तमक्षमाय महार्घं ।

।। इति प्रथम क्षमांगपूजा ।।

अथ द्वितीय मार्दवांग पूजा ।

त्यक्तमानं सुखागारं मार्दवं क्रिययान्वितं ।
पूजया परया भक्त्या आह्वानादि विधानतः ।। १ ।।

ॐ ह्रीं मार्दवांग अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भवभववषट् स्वाहा ।

पापगर्वप्रहंतारं रागद्वेषविनाशकं ।
मार्दवगुणसंयुक्तं पूजयामि गुणोत्करं ।। १ ।।
ॐ ह्रीं मार्दवांगाय जलादिकं० ।। १ ।।
जातिगर्वं प्रहंतारं दुखदं सौख्यदूरगं ।
गर्वनाशकरं साधुं पूजयामि जलादिकैः ।। २ ।।

ॐ ह्रीं जातिगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ २ ॥

रूपगर्व न जानाति वैराग्यसहितो महान् ।
महाध्यानयुतो नित्यं मह्यतेऽसौ विशारदः ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं रूपगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ३ ॥

कुलगर्वविधातारं मुनिर्लोकप्रबोधकं ।
धर्मध्यानरतं नित्यं यजामि गुणशालिनं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं कुलगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ४ ॥

ज्ञानगर्वविजेतारं मुनिं वीतपरिग्रहं ।
चित्स्वरूपं चिदानंदं यजेऽहं जलमोदकैः ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ५ ॥

बलमदबलार्जितं लोकोद्धारसमर्थकं ।
वीतमत्सरकं चर्चे ध्यानगम्यं मुनिं सदा ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं बलमदरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ६ ॥

पक्षादितपसा युक्तो गर्वं न कुरुते कदा ।
भुवनगन्धशालीयैः पूज्यते गुरुसत्तमः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं तपगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ७ ॥

भामापुत्रसुबन्धूनां महागर्वविनाशकं ।
स्वंभचंदनशालीयैः पूजयामि ऋषिं परं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं भामापुत्रादिगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ८ ॥

धनधान्यसुवस्तूनाम् ममताभावदूरगं ।
संसारतारकं देवं महामि सुतपोनिधिं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं धनधान्यगर्वरहित मार्दवांगाय जलादिकं० ॥ ९ ॥

गोमहिषीगजाश्वानां पापगर्वविदूरगं ।
मुनिं सुमृदुतायुक्तं महामि जलमोदकैः ॥ १० ॥
ॐ ह्रीं चतुष्पदादिगर्वरहितमार्दवांगाय जलादिकं० ॥१०॥
जलगंधादिकैः पुष्पैः दीपधूपफलोत्तमैः ।
मार्दवांगवरं चर्चे शुद्धधर्मोपदेशकं ॥
ॐ ह्रीं मार्दवांगाय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ जयमाला ।

घत्ता ।

गर्व विनाशक, मदपरिनाशक, धर्मासन वर शुद्ध मुनि ।
बहुकर्म निराकर, मार्दव शुभकर, जिनशासन गृहकथित मुनि ॥१॥

जय मार्दव अंग विशाल रूप ।
जय मार्दव सेवित सुमुनि भूप ॥
वर जाती मद न करोति मुनि ।
वर भव्य संबोधन धर्म गुणी ॥ २ ॥
जाति गर्व बहु पाप भयंकर ।
जाति गर्व कुत्सित नर दुखधर ॥
जाति गर्व कुलहीन सुभवपर ।
जातिगर्व न विकार सुमतिपर ॥ ३ ॥
रूपगर्व गुणगण सब टाले ।
रूपगर्व अपकीर्ति सुमाले ॥
रूपगर्व अवकुरूप सुघरपर ।
रूपगर्व निंदागृह परनर ॥ ४ ॥

वर कुलगर्व नीच कुलदाता ।
वर कुलगर्व सुदुर्गति आता ॥
वर कुलगर्व सुधर्म निराकर ।
वर कुलगर्व सुपाप भयंकर ॥ ५ ॥
ज्ञानगर्व मुनिवर विभासे ।
वर उपदेश बोध सुविभासे ॥
ज्ञानगर्व मूर्खपद पामे ।
अक्षर अर्थ भाव पर वामे ॥ ६ ॥
वरतप विमल सुगति बहुसाधक ।
तपबल कर्मसमूह विबाधक ॥
मुनिवर जिनवर तप गुण धारक ।
सुतप करोति कुधर्म विदारक ॥ ७ ॥
रीत भइ सह सत्तर लक्षांकर ।
कोटीभट संख्या न विभाकर ॥
धर्मवंत पाण्डव नर गुणधर ।
सुतप गर्व नहि कीधा मुनिवर ॥ ८ ॥
लक्ष्मीगर्व करीने गुत्ता ।
पाप गर्व धरि ते नर भुत्ता ॥
मान विमान कदानहि जाने ।
मुनिवर वसुमद कदा न माने ॥
घत्ता ।
वर मार्दव साधे, दुख न बाधे,
अभयचंद्र दयनन्दि वर ।

श्रीसुमतिसागर, जिनबोध दिवाकर,
भाकर मार्दव शुद्ध कर ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं मार्दवांगाय जयमाला महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ तृतीय आर्जवांग पूजा ।

स्थापयामि परमांगं धर्महेतुविवर्धकं ।
शासनोद्योतकं चर्चे वीतरागं सुवल्लभं ॥

ॐ ह्रीं उत्तम आर्जवांग अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं) ।

मनसि कुटिलतां यो न करोति कदा मुनिः ।
विशुद्धहृदयं देवं महामि यतिनायकं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं मनसि कुटिलतारहितआर्जवांगाय जलादिकं (अष्ट-द्रव्यका अर्घ देना) ॥ १ ॥

सत्यवाक्ययुतं धीरं सत्योपदेशदायकं ।
दुःखदारिद्रहंतारं यजे साधुं निरंतरं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं सत्यवाक्ययुक्ताय आर्जवांगाय जलादिकं ॥ २ ॥

असत्ये च महादुःखदायके न रतो मुनिः ।
चर्च्यतेऽसौ परो वेत्ता जिनशासनरक्षकः ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं असत्यकार्यरहित आर्जवांगाय जलादिकं ॥ ३ ॥

सत्यासत्यद्वयं कार्यं हिताहितविचारकः ।
परहितचिंतकोऽसौ मह्यते गुणसागरः ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं उभयकार्यविचारसहितार्जवांगाय जलादिकं ॥ ४ ॥

त्रिकरणयोगधरं युधिष्ठमिव वै मुनिं ।
परोपसर्गजेत्तारं पूजयामि शिवंकरं ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं परोपसर्गसहनार्जवांगाय जलादिकं ॥ ५ ॥

मुनीन्द्रं गुणवाराशिं कुमिथ्यामतखण्डकं ।
क्षुत्पिपासासहं धीरं संयजामि दयाधिकं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं परिषहसहनार्जवांगाय जलादिकं ॥ ६ ॥

हितमितमधुश्रेष्ठं वाक्यसंसारतारकं ।
सदुपदेशकं साधुं चर्चे तं धर्मनायकं ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं मधुरोपदेशार्जवांगाय जलादिकं ॥ ७ ॥

वीतरागमहाध्यानधारकं चित्तवारकं ।
ऋजुपरिणामागारं तं महामि यतीश्वरं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं ऋजुपरिणामार्जवांगाय जलादिकं ॥ ८ ॥

षडावश्यकसंधारं चिद्रूपं ध्यानतत्परं ।
कायोत्सर्गमहायोगं धारकं तं यजे मुदा ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं षडावश्यकार्जवांगाय जलादिकं ॥ ९ ॥

वक्रवाक्याद्विरक्तं हि प्रमाणनयदेशकं ।
कामस्य मदहंतारं भावयामि यतीश्वरं ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं वक्र वचनरहितार्जवांगाय जलादिकं ॥ १० ॥

वनचन्दनशालीयैः लतांतचरुदीपकैः ।
धूपफलभरैश्चाये आर्जवं सुधर्मोदधिं ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं आर्जवांगाय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ॥ ११ ॥

जयमाला ।

घत्ता ।

आर्जव सुखमन्दिर, त्रिभुवनसुखसुन्दर,
मुनिवर धंधव सुगुण सही ।
सममनवरचेता, परगुणनेता,
विथनं दुर्गति गमन सही ॥ १ ॥
कुटिल विचार, करे न मुनिवर ।
शुद्धाचरण विचरण, सुयतिवर ॥
सत्य असत्य उभय अनुभव मन ।
तथा मुनीन्द्र सुकथन वचनगण ॥ २ ॥
तनु विचरण त्रयभेद सुसंख्या ।
मनवचकाय गुप्ति परिरक्षा ॥
कथित धर्मदयापरशासन ।
सकलजीव हितकरण सुभापण ॥ ३ ॥
ऋजुपरिणाम विविध जणमण्डण ।
सम मन भाव कुमत मत खण्डन ॥
परम विचार स्वमन परिरक्षण ।
भेद भाव स्तुति वितत विचक्षण ॥ ४ ॥
वीतराग गुण मनगत सुन्दर ।
बोध विचार परमपद मन्दिर ॥
शुद्धाचार सु आर्जव गुणधर ।
पर दुख सहन सुमन सुघनवर ॥ ५ ॥

निकट कथा नहि भाषित यतिवर।
शीतल वचन मधुरघन सुन्दर ॥
कालत्रय धृतयोग सुकन्दर ।
सर्व जीव समता जय मंदर ॥ ६ ॥

घत्ता ।

ए गुणधरि आर्जव, मुनिवर आर्जव,
आर्जव अंग सुजिनवर वचन ।
सूरि अभय यतींदा जिन मुनि वन्दा,
सुमति सागर जिनगुण कथन ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं आर्जवांगाय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ चतुर्थ सत्यांग पूजा ।

स्थापयामि सदा चित्ते सत्यधर्मांगकं मुदा ।
धर्मसिद्धिकरं लोके सर्वकल्याणकारकम् ॥

ॐ ह्रीं उत्तमसत्यांग अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं)।

सत्यशीलगुणाधारं स्पष्टसंख्याविवेदकं ।
चर्चामि वरपानीयैः श्रीमुनिं मदहिंसकं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं सिद्धगुणोद्धारकसत्यांगाय जलादिकं (अष्टद्रव्यस्य अर्घं)

जिनेन्द्रवचनाधारं वेदवेदांगपारगं ।
प्रसत्यांगविधातारं पूजयामि महामुनिं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं जिनेन्द्रवचनधृत सत्यांगाय जलादिकं ॥ २ ॥

द्वादशांगश्रुताधारं जिनसंघप्रबोधकं ।
प्रसत्यांगसुधाब्धि वा तं महामि यतीश्वरं ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं द्वादशांगश्रुत सत्यांगाय जलादिकं ॥ ३ ॥

महासाधुं गुणोपेतं सद्ध्याननिरतं सदा ।
जलचन्दनशालीयैश्चर्चेहं श्रीमुनिं परं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं साधुगुणरत सत्यांगाय जलादिकं० ॥ ४ ॥

सत्यव्रतधरं साधुं पापतापनिवारकं ।
सत्यक्रियादयाधारं सुमुनिं पूजयाम्यहम् ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं व्रतक्रियायुक्तसत्यांगाय जलादिकं ॥ ५ ॥

सत्यपंचमहामेरुं भेदज्ञानप्रकाशकं ।
सत्यधर्मगुणाधारं पूजयामि गणाधिपं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं मेरुपृथ्वीसत्यांगाय जलादिकं० ॥ ६ ॥

अष्टभूमिजिनेन्द्रोक्तं भेदभावप्रभावकं ।
सुमुनिर्मह्यते नित्यमम्भचंदनस्त्रक्षतैः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं अष्टभूमिज्ञान सत्यांगाय जलादिकं ॥ ७ ॥

चतुर्दशगुणस्थान सत्यभावविचारकं ।
यजामि मुनिपं धीरं शुद्धबुद्धिप्रदायकं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं सत्यसिद्धांत सत्यांगाय जलादिकं ॥ ८ ॥

जिनदेवे जिनगुरौ जिनसूत्रे विशारदः ।
जिनवृषे महाज्ञानी भाष्यते मुनिपुङ्गवः ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं गुरुप्रतीति सत्यांगाय जलादिकं० ॥ ९ ॥

तत्त्वप्रतीतिसत्यांगं कामध्वंसनकोविदं ।
यथाख्यातचरित्राढ्यं पूजयामि जलादिकैः ॥ १० ॥
ॐ ह्रीं यथाख्यात चारित्र सत्यांगाय जलादिकं० ॥ १० ॥
धर्मं देवगुरु दयाप्रहसितं बोधं जिनेन्द्रोदितं ।
त्रैलोक्यं सकलं सुदेववितितं चारित्ररत्नं महत् ॥
सत्यं द्रव्यसुतत्वबोधनिचयं सत्यं विना चान्यथा ।
सत्यं श्रीजिनदेव भापितवरं चार्घं ददे भावतः ॥
ॐ ह्रीं सत्यांगाय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला ।

घत्ता ।

सत्यांगं जिनधर्म प्रकाशं ।
कुरुते यतिपति विगतमला ॥
जिनदेव सुवाणी गुणनिधिजाणी ।
पठित सुधर्म कथा विमला ॥ १ ॥
सत्य सिद्ध गुण जिनवर वेत्ता ।
सत्य जिनेश्वर धर्म सुवेत्ता ॥
सत्य सुदर्शन प्रथम सु तारण ।
सत्य सुबोध परम गुण कारण ॥ २ ॥
सत्यसुव्रत भर मुनिवर भूषण ।
सत्य सु गेही दर्शन पोषण ॥
सत्य सु वृषवर जिन मुख भाषण ।
सत्य सुजीवदया मुनि शासन ॥ ३ ॥

सत्य परम गुरु पंच सु सारं ।
सत्य पंच गुरु प्रतिमा तारं ॥
सत्य सूरि स्वामी वरहारं ।
सत्य पाठक गुणनिधि संकारं ॥ ४ ॥
सत्य सुत्रेषठि पुरुष महागण ।
सत्य सुलोकालोक सुधिषण ॥
सत्य परम गुरु वचन सुतारण ।
सत्य अणंताजिन रिपु वारण ॥ ५ ॥
सत्य सुतत्व सप्त जिन वचना ।
सत्य सुद्रव्य जिनेश्वर वचना ॥
सत्य पदारथ केवल-ज्ञानी ।
सत्य अंग श्रीद्वादश वाणी ॥ ६ ॥

घत्ता ।

सत्य सुमेरु मही जिन शासन ।
सत्य स्वर्ग अपवर्ग मही ॥
श्रीअभयनन्दी गुरुचरण सेवक ।
सुमतिसागर जिन कथित सही ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमसत्यांगधर्माय महार्घं निर्वपामि इति स्वाहा ।

अथ पंचम शौचांग पूजा ।

विश्वजीवहितागारं शौचांगं सुखमोक्षदं ।
स्थापयामि त्रिवारं तं पूजयामि पृथक् पृथक् ॥

ॐ ह्रीं शौचांग अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ

तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भवभव वषट् (सन्निधिकरणं)

धर्मप्रतीतिशौचांगं भव्यजीवहितावहं।
पालकं सुमुनिं चाये धर्मदेशनतत्परं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं धर्मप्रतीतिशौचांगाय जलादिकं० (अष्टद्रव्यसे अर्घ) ॥१॥

वाक्यशौचं परं प्रोक्तं श्रीजिनेन्द्रस्तवादिकं।
मनः शौचं विधातारं यजेऽहं मुनिधर्मदं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं पवित्रवाक्य शौचांगाय जलादिकं० ॥ २ ॥

श्रीचारित्रपरं साधुं श्रीशौचांगविनायकं।
वनगन्धाक्षतैश्चर्चे वीतमोहं विशारदं ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं चारित्रस्नान शौचांगाय जलादिकं० ॥ ३ ॥

अन्तरात्ममहाभेद भेदकमघच्छेदकं।
शौचांगस्य धरंधीरं तं यजामि गुणोदधिं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं आत्मध्यान शौचांगाय जलादिकं० ॥ ४ ॥

गुप्तिगोपनशौचांगधारकं भवतारकं।
महामि तत्ववेत्तारं महाधर्म विधायकं ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं गुप्तित्रयरक्षण शौचांगाय जलादिकं० ॥५॥

क्रोधोत्पत्तिनिहंतारं वीतरागं महामुनिं।
यजामि कामहंतारं जलचंदनसाक्षतैः ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं क्रोधादि रहित शौचांगाय जलादिकं० ॥६॥

चैत्योपदेशकर्तारं सर्वजीवहितेशिनं।
जलाद्यष्टमहाद्रव्यैः महामि जयदं परं ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं जिनचैत्योपदेश शौचांगाय जलादिकं० ॥ ७ ॥

पंचाचारविचारज्ञं श्रीमुनि शौचधारकं ।
समित्यादिव्रतस्नानधारकं तं यजे मुदा ॥ ८ ॥
ॐ ह्रीं व्रतमित्यादि शौचांगाय जलादिकं० ॥ ८ ॥
व्यवहारशौचसंधारं जिनपूजाकरं परं ।
स्वर्गादिगतिदं सारं तं महाम्यघघातकं ॥ ९ ॥
ॐ ह्रीं जिनपूजोपदेश शौचांगाय जलादिकं० ॥ ९ ॥
परब्रह्मजपारंगं जिनशासनपोषकं ।
इहाशौचधरं देवं संयजामि जलादिकैः ॥ १० ॥
ॐ ह्रीं परब्रह्मजपादि शौचांगाय जलादिकं० ॥ १० ॥
चर्मास्थिमांसचांडालमृतस्पर्शात्सुनिर्मलः ।
विष्टास्पर्शाज्जलस्नानमाचरेन्महामुनिः ॥
ॐ ह्रीं शौच धर्मांगाय महार्घं ।

अथ जयमाला ।

घत्ता ।

शौचधर्म परमार्थवेत्ता ।
श्रीजिननेत्ता धर्मधुरा ॥
जिनशासन परमारथ धर्त्ता ।
कर्त्ता मुक्तिवधू मधुरा ॥ १ ॥
शौच परमजन मुनिवर पामी ।
शौच सुबाहुबली भव स्वामी ॥
शौच जिनेन्द्र वचन परिपूजित ।
शौच सुदर्शनजल अघ धूजित ॥ २ ॥

शौच सुदर्शन शेठ महाजन ।
परम सुशील व्रत ते धन धन ॥
शौचधर्म पाले जन शुद्धा ।
शौच विश्वहित चिंतन बुद्धा ॥ ३ ॥
शौच सुपरधन मन नहि स्पूरा ।
शौच धर्म गणधरनिसुपूरा ॥
शौचवक्र वचनावलि नाशक ।
शौच शुद्ध वचन प्रकाशक ॥ ४ ॥
शौच आदि जिन आदि प्रकाशी ।
शौच सुसन्मति अन्तिम भाशी ॥
शौचकायगुणरक्षक धीरा ।
शौच सुसंयम द्वादश वीरा ॥ ५ ॥
शौच परम व्यवहार लहिज्जइ ।
शौचापरकृत जिनपूजिज्जइ ॥
शौच विमनवृत ततपरकाया ।
शौच रक्षण कृत मुनिराया ॥ ६ ॥

घत्ता ।

जलशौच सुकृतगृह
धरनिपुनातु श्रीजिनपूजपरा ॥
श्रीअभयनंदी गुरुचरण सुसेवक ।
सुमतिसागर जिनकथितपरा ॥
ॐ ह्रीं शौच धर्मांगाय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा ।

अथ षष्ठम संयमांग पूजा ।

दयाढ्यं संयमं चोक्तं सुंदरमिन्द्रियातिगं ।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये ॥
एकेन्द्रिया पराजीवा द्वापंचाशत्प्रमाणकाः ।
लक्ष्यसंख्या दयागारं संयजामि दमाधिकं ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं एकेन्द्रियरक्षणसंयमांगाय जलादिकं० ॥ १ ॥
द्वीन्द्रियादिपराजीवा लक्ष्यद्वयप्रकालकं ।
स्वात्मवस्तुविभेदज्ञं तं यजाम्यभयान्वितं ॥ २ ॥
ॐ ह्रीं द्वीन्द्रियरक्षणसंयमांगाय जलादिकं० ॥ २ ॥
त्रीन्द्रियरक्षकं साधुं लक्ष्यद्वयप्रपालकं ।
यजामि संयमनिधिं जलादिवसुद्रव्यकैः ॥ ३ ॥
ॐ ह्रीं त्रीन्द्रियजातिरक्षण संयमांगाय जलादिकं० ॥ ३ ॥
चतुरिन्द्रियजीवौघरक्षकं वनवासिनं ।
लक्ष्यद्वयविचारज्ञं यजामि भव्यबांधवं ॥ ४ ॥
ॐ ह्रीं चतुरिन्द्रियजातिरक्षण संयमांगाय जलादिकं० ॥ ४ ॥
पंचेन्द्रियबहुभेददायकं मुनिनायकं ।
जलनभभूमिभेदज्ञं पूजयामि शमोदधिं ॥ ५ ॥
ॐ ह्रीं पंचेन्द्रियजातिरक्षण संयमांगाय जलादिकं० ॥ ५ ॥
स्पर्शनविषयातीतं योगभावविचारकं ।
नग्नरूपं परं साधुं महामि भवभेदकं ॥ ६ ॥
ॐ ह्रीं स्पर्शनेन्द्रियविषयरहित संयमांगाय जलादिकं० ॥ ६ ॥
रसनेन्द्रियवंचकज्ञानध्यानविपारज्ञं ।
यजामि संयमागारं जलगंधसुतन्दुलैः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं रसनेन्द्रियविषयरहित संयमांगाय जलादिकं० ॥ ७ ॥

घ्राणेन्द्रियरक्षकं वै विषयविषनाशकं ।
संयमागारकं चर्चे जिनधर्मविवर्द्धकं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं घ्राणेन्द्रियविषयरहित संयमांगाय जलादिकं० ॥ ८ ॥

नेत्रेन्द्रियरक्षकं सूरं भामासंगविवर्जितं ।
शीलाशीलविचारज्ञं चर्चे शीलसरित्पतिं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं नेत्रेन्द्रियविषयरहित संयमांगाय जलादिकं० ॥ ९ ॥

कर्णेन्द्रियसाधकं धीरं सुस्वरादिविवर्जितं ।
वरयोगगृहं चार्चे स्पष्टभेदविधार्चनैः ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं कर्णेंद्रिय विषयरहित संयमांगाय जलादिकं० ॥ १० ॥

गाथा ।

संयमसूरं यतीन्द्र ज्ञानाब्धि धर्मदं परं ।
साधु जलचंदनशालियै पुष्पोघैः पूजयामि दयाधारं ॥

ॐ ह्रीं उत्तमसंयमांगाय महार्घं निर्वपामि इति स्वाहा ।

अथ जयमाला ।

घत्ता ।

संयम मुनितारकं कर्मविदारकं ।
वारककाम त्रिशल्य सदा ॥
त्रिभुवनपरिसुन्दरः गणधर विरचित ।
वदति जिनेन्द्र विगतपदा ॥ १ ॥

संयम जिन आदिजिनेन्द्र युक्त ।
संयम गुण चित्त सुबोध युत्त ॥

संयम गुणकष्ट विपाक सहन ।
संयम गुण वह्नि सुकर्म दहन ॥ २ ॥
संयमगुण ध्यान धरंति धीर ।
संयमगुण समताभाव वीर ॥
संयमगुण शुद्धचारित्र धार ।
संयमगुण जीव स्वरूप पार ॥ ३ ॥
संयमगुण सीतानारि पार ।
संयमगुण जीव न दोपसार ॥
संयमगुण अनन्तमती विचार ॥
संयमगुण सामायिक सुसार ॥ ४ ॥
संयमगुण कोमल रति न संति ।
संयमगुण दश दोप हरंति ॥
संयमगुण नयगुण ते धरंति ।
संयमगुण मणवचकाय करंति ॥ ५ ॥
सँयमगुण न हरति पापबुद्धि ।
संयमगुण मौन धरंति शुद्ध ॥
संयमगुण शुद्धसुध्यानपूर ।
संयमगुण परहितकरण पूर ॥ ६ ॥

घत्ता ।

संयम पालंता, मुनि जयवंता, संता सुरनर पूज करे ।
श्रीअभयनंदी, गुरुसंयम पारग, सुमतिसागर जिनधर्म धरे ॥७॥
ॐ ह्रीं उत्तम संयम धर्मांगाय महार्घं ।

अथ सप्तम तपांग पूजा।

कामेन्द्रियदमं सारं तपःकर्मारिनाशनं।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये ॥

ॐ ह्रीं तपोधर्मांग अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं)।

अष्टमीप्रोषधागारं वसुकर्मविनाशकं।
सुरनरैः सदा पूज्यं महामि जलद्रव्यकैः ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं अष्टमीप्रोषधोतपोंगाय जलादिकं। ॥ १ ॥

चतुर्दशीदमयुक्तं परकष्टनिवारकं।
महामि तं नृपाराध्यं वसुद्रव्यसमूहकैः ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं चतुर्दशीप्रोषधतपोंगाय जलादिकं ॥ २ ॥

पंचमो प्रोषधागारं केवलज्ञानभावदं।
महामि यतिपं धीरं घनचंदनपावनैः ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं पंचमी प्रोषधतपोंगाय जलादिकं ॥ ३ ॥

एकांतरतपोगारं वधबन्धनभंजकं।
महामि व्रतसंधारं परातीचारवर्जितं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं एकांतरकृततपोंगाय जलादिकं ॥ ४ ॥

द्व्यन्तरादितपाधारं परदेशनतत्परं।
जयदं जायते पूतं वीतमोहं महीतले ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं द्विदिनानन्तर तपोंगाय जलादिकं ॥ ५ ॥

पक्षप्रोपधकर्त्तारं शुभतत्व विधायकं ।
पूजयामि महाद्रव्यैः भावदं च विदांवरं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं पक्षप्रोषधतपोंगाय जलादिकं ॥ ६ ॥

वर्षोपवासिनं वीरं कायोत्सर्गधृतं वरं ।
वृषभेशं जिनं चार्ये चादि धर्म प्रकाशकं ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं वर्षोपवास तपोंगाय जलादिकं ॥ ७ ॥

बाहूबलिमुनि चार्ये कायोत्सर्गधरं परं ।
वर्षोपवासिनं धीरं पापनाशनशुद्धिदं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं बाहुबलिवर्षोपवासतपोंगाय जलादिकं० ॥ ८ ॥

अहोरात्रिश्रुताभ्यासकरं ध्यानविपारगं ।
चर्चामि बोधकूपारं स्वष्टद्रव्यसमुच्चयैः ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं ज्ञानाभ्यासतपोंगाय जलादिकं० ॥ ९ ॥

मनोवाक्कायवश्यार्थं धर्मध्यानपरायणं ।
पूजयामि महाभागमनेकान्तदिगम्बरं ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं त्रिकरणशुद्धितपोंगाय जलादिकं० ॥ १० ॥

महातपोगृहं साधुसम्भचन्दन साक्षतैः ।
लतांतचरुदीपोघैः चार्ये कामरिपुं परं ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमतपोंगधर्माय जलादिकं० ॥ ११ ॥

अथ जयमाला ।

घत्ता ।

दर्शन शुद्धि, तपवरकरि, वृषभ जिनेश्वर, प्रथमधरी ।
दर्शन विन न तप, जिन भाषित, त्रसित मिथ्या बोधकरी ॥१॥

आदिदेव तप कृत पर कारित।
मास सु त्रय त्रय तप धारित॥
पर तपवंत मुनीश्वर सुंदर।
परतपवंत सुशान्ति सु मन्दिर॥ १॥
परतपवंत गणधर देवसु शंकर।
परतपवंत चारणमुनि नभ संचर॥
परतपवंत सु इन्द्र पदाधिप।
परतपवंत फणेन्द्र सुराधिप॥ ३॥
परतपवंत सुजयंत सुगामि।
परतपवंत चक्रधर स्वामी॥
परतपवंत परीषह सूरी।
परतपवंत सुशील सुपूरी॥ ४॥
तपतपवंत सु एक दिनांतर।
परतपवंत सुपक्ष मासकर॥
परतपवंत सु एक कवल पर।
परतपवंत परीषह जिन पर॥ ५॥
परतपवंत कुन्द मुनि सूरा।
परतप जिनवर गणधर तीरा॥
परतप गति सुरपद धारी।
परतपगतां सुमति पदकारी॥ ६॥
परतपवंत मुनिवर सन्ता।
गंता ते मुनि मुक्ति महा श्री॥

अभयनन्दीश्वर तप जय सुन्दर ।
सुमतिसागर जिन शुद्ध सही ॥ ७ ॥
ॐ ह्रीं उत्तमतपोंगाय महार्घं० ।

अथ अष्टम त्यागांग पूजा ।

श्रीमन्नाभिसुतं नत्वा त्यागं सर्वसुखाकरं ।
पूजयामि महाभागं तमेकान्तदिगम्बरं ॥

ॐ ह्रीं त्यागधर्म अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्वाहा (स्थापनं), अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं)

चतुर्विधं जिनेद्रोक्तं दानलक्षणसंयुतं ।
समुपदेशकं कांतं पूजयामि जलादिकैः ॥ १ ॥
ॐ ह्रीं चतुर्विधदानत्याग जलादिकं ॥ १ ॥

श्रीजिनेन्द्रश्रुतागारं भव्यजीवप्रपादकं ।
सुज्ञानदायकं लोके महामि भवभंजकं ॥ २ ॥
ॐ ह्रीं श्रुतज्ञान त्यागाय जलादिकं ॥ २ ॥

आहारदानोपदेशदायकं यतिनायकं ।
महापुण्याकरं चर्चे वीतकामं सुशीलकं ॥ ३ ॥
ॐ ह्रीं अन्नदानोपदेशत्यागाय जलादिकं ॥ ३ ॥

महाबाधाप्रकान्तानां मिथ्यारोगनिवारकं ।
सदोपदेशदातारं महामि भवत्रासकं ॥ ४ ॥
ॐ ह्रीं औषधदानत्यागाय जलादिकं ॥ ४ ॥

परिग्रहमहादोषजेतारं कामतापकं।
चार्ये घनरसैः शुद्धैः शुद्धबोधप्रकाशकं ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं परिग्रहत्यागाय जलादिकं ॥ ५ ॥

दर्शनवित्तसंधारं मिथ्यावित्तनिवारकं।
परोपदेशविस्तारकरं चार्ये जलादिकैः ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनरक्षण मिथ्यात्यागाय जलादिकं ॥ ६ ॥

मोहत्यागकरं साधुं समताधनविपारगं।
शुद्धध्यानास्त्रविस्तारं करं चार्ये जलादिकैः ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं मोहत्यागाय जलादिकं ॥ ७ ॥

क्रोधत्यागकरं सिद्धं क्षमापारगतं वरं।
मानमर्दनकं शूरं चार्ये विश्वहितेशिनं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं क्रोधरहित त्यागाय जलादिकं ॥ ८ ॥

मायाकुण्डलिनीत्यागकरं परोपदेशकं।
मूर्च्छाछेदकरं नित्यं पूजयामि शिवंकरं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं मायारहितत्यागाय जलादिकं ॥ ९ ॥

महालोभप्रहंतारं जिनशासनरक्षकं।
पूजयामि सुत्यागेशं स्वष्टद्रव्यसमुच्चयैः ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं लोभरहितत्यागाय जलादिकं ॥ १० ॥

जीवनचंदन तन्दुललतातं चरुदीपधूपफल निकरैः।
त्यागजलधि मुनिवीरं समताधीरं यजे नित्यं ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमत्यागधर्माय महार्घं।

जयमाला ।

घत्ता ।

त्याग सुलक्षण, मुनिजन लक्षण, लक्षणपात्र, विचारकरी ।
दानसुदाता, श्रीमुनित्राता, त्रिभुवन जीवन, सुभावधरी ॥१॥

शुद्ध त्याग एकेन्द्रिय रक्षण ।
　　शुद्ध त्याग दुतिचार सुलक्षण ॥
शुद्ध त्याग पंचेन्द्रिय रक्षण ।
　　शुद्ध त्याग समता गुणपक्षण ॥ २ ॥
शुद्ध त्याग मिथ्यामत निरीक्षण ।
　　शुद्ध त्याग पर वस्तु विरतण ॥
शुद्ध त्याग परिपालन त्यागी ।
　　शुद्ध त्याग वृषभेश्वर भागी ॥ ३ ॥
शुद्ध त्याग परबोध सुदाता ।
　　शुद्ध त्याग दर्शन परिभ्राता ॥
शुद्ध त्याग कंदर्पविदारण ।
　　शुद्ध त्याग शीलाधिप तारण ॥ ४ ॥
शुद्ध त्याग परक्रोध निवारण ।
　　शुद्ध त्याग परमान विदारण ॥
शुद्ध त्याग मायागुण दारण ।
　　शुद्ध त्याग रिपुमोह विदारण ॥ ५ ॥
शुद्ध त्याग गृहमोहविनाशक ।
　　शुद्ध त्याग परहितकृत भापक ॥

शुद्ध त्याग जिनसूत्र सुपाठक।

शुद्ध त्याग जिनसमय प्रकाशक ॥ ६ ॥

घत्ता।

गृहपति पदत्याग, गतमुनिभागी, कृत वैराग्य, सुपरमपदं।

श्रीअभयनंदी गुरु समता भाजन, सुमतिसागर जिनुधर्मपदं ॥७॥

ॐ ह्रीं उत्तमत्यागधर्माय महार्घं निर्वपामीति स्वाहा।

अथ नवम आकिंचनांग पूजा।

आकिंचनं ममतादिदूरं कृत्स्नसुखाकरं।

पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये ॥

ॐ ह्रीं आकिंचनधर्म अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनं) अत्र मम सन्निहितो भवभव वषट् (सन्निधापनं)।

चिद्रूपचिंतनपरं ममभावविवर्जितं।

आकिंचन्य परं लोके यजे साधुं सुपूजनैः ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं ममताभावविवर्जितआकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ १ ॥

परं वैराग्यभावज्ञं परपाखण्डवर्जितं।

सामायिकरतं नित्यं संयजामि सुगृहातिगं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं वैराग्यपरताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ २ ॥

अनित्यभवनागारं भामामोहविदूरगं।

एकत्वभावमालीनं सौख्यदं तं यजे मुदा ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं अनित्यभावनाकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ३ ॥

पुत्रपौत्रादिकमोहध्वंशकं रतिनाशकं ।
संयजामि सुपानीयैः चन्दनादिसुद्रव्यकैः ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं पुत्र पौत्रादिमोहरहिताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ४ ॥

गोमहिपाश्वहस्त्यादिदुर्गदेशनमामकं ।
महावैराग्यभावज्ञं यजेऽहं तं वनादिकैः ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं गोमहिष्यादिममतारहिताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ५ ॥

कर्मबन्धक्रियाहीनं महाश्रवविनाशकं ।
धर्मध्यानरतं नित्यं महामितं तपोनिधिं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं पापक्रियारहिताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ६ ॥

जिनपूजारतं नित्यं जिनस्नपनदेशकं ।
धर्मस्नेह परं चार्ये स्वाकिंचन्य विसारदं ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं जिनपूजारताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ७ ॥

धनधान्यसुहृद्दादिममभावविभावगं ।
पूजयामि गणाधीश माकिंचन्यपरं यतिं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं नगरग्रामगृहसुहृदादिविरक्ताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥८॥

परीषहसहं धीरं द्वाविंशतिभेदगं ।
चर्चे वीतगृहं सूरं भव्यजीवप्रपालकं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं परीषहसहनाकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ ९ ॥

त्रिगुणयुक्तवाक्येशं मधुरादिविपारगं ।
चर्चे कामजितं सूरं शुद्धं भावविमोहकं ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं हितमितमिष्टत्रिगुणसहिताकिंचन्यांगाय जलादिकं ॥ १० ॥

जलगन्धाक्षतैः पुष्पैः नैवेद्यैर्दीपधूपकैः ।

फलजातिसमूहैश्च संयजेऽर्घकैर्वरैः ॥ ११ ॥

आकिंचन छत्र चमर न धरण ।
आकिंचन भूपतिपद न तरण ॥
आकिंचन मम न विपय पास ।
आकिंचन मुनितत्त विपयत्रास ॥ ५ ॥
आकिंचन धरणी शयन शुद्ध ।
आकिंचन मम नहि शयन शुद्ध ॥
आकिंचन सज्जन तरह नेद ।
आकिंचन मुनि नहि करइ खेद ॥ ६ ॥

घत्ता ।

आकिंचन श्रीमुनिसुधन, भण्डार रत्नत्रय भूपणविमल ।
श्रीअभयनंदी, यतिवरगत दूपण, सुमतिसार हृदि जिनकमल ॥७॥

ॐ ह्रीं उत्तम आकिंचनधर्माय महार्घं ।

अथ ब्रह्मचर्य पूजा ।

स्त्रीविरक्तं जगत्पूज्यं ब्रह्मचर्यं महाव्रतं ।
पूजया परया भक्त्या पूजयामि तदाप्तये ॥

ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं) अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्वाहा (स्थापनं), अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणं)

शुद्धव्रतधरं धीरं श्रीभरताधिपसुन्दरं ।
ब्रह्मचर्यं व्रतागारं पूजयामि शिवंकरं ॥ १ ॥

ॐ ह्रीं श्रीभरताधिपब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ १ ॥

महाबलयुतं धीरं बाहुबलि महामुनिं ।
ब्रह्मचर्य सु भण्डारं पूजयामि शिवंकरं ॥ २ ॥

ॐ ह्रीं श्रीबाहुबलिब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ २ ॥

अनन्तवीर्य योगिशं ब्रह्मचर्य व्रताधिकं ।
आदिमोक्षगतं धीरं पूजयामि शिवंकरं ॥ ३ ॥

ॐ ह्रीं श्री अनन्तवीर्यब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ३ ॥

सुदर्शनं सुदर्शनं धर्मध्यान विपारगं ।
ब्रह्मचर्यप्रकूपारं पूजयामि शिवंकरं ॥ ४ ॥

ॐ ह्रीं सुदर्शनब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ४ ॥

सुरेन्द्रदत्तं कृपाब्धि ब्रह्मागारं जिनार्चकं ।
सुशीलसंयमापारं पूजयामि शिवंकरं ॥ ५ ॥

ॐ ह्रीं सुरेन्द्रदत्त ब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ५ ॥

श्रीरामब्रह्मधामं ब्रह्मभूपण व्रतादरं ।
दानपूजा कृपापारं पूजयामि शिवंकरं ॥ ६ ॥

ॐ ह्रीं श्रीरामब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ६ ॥

कुन्दकुन्दगुरुं चर्चे सद्ब्रह्मव्रतपारगं ।
दशधर्मसुधांभोधिं पूजयामि शिवंकरं ॥ ७ ॥

ॐ ह्रीं कुन्दकुन्दगुरुब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ७ ॥

अकलंकं गुरुं चार्चे दशधर्मसुधांबुधिं ।
महाशास्त्रकरं सूरिं पूजयामि शिवंकरं ॥ ८ ॥

ॐ ह्रीं अकलंक गुरु ब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ८ ॥

सुपात्रकेशरीं सूरिं वीतरागोक्तभावगं ।
स्त्वष्टसहस्री कर्त्तारं पूजयामि शिवंकरं ॥ ९ ॥

ॐ ह्रीं पात्रकेशरीब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ ९ ॥

गोमट्टसारसिद्धान्तकर्त्तारं भव्यदेशकं ।
नेमिचन्द्रं सुबुद्धीशं पूजयामि शिवंकरं ॥ १० ॥

ॐ ह्रीं नेमिचंद्रब्रह्मचर्यांगाय जलादिकं ॥ १० ॥

भुवनमल यजाक्षत सरजमोदकदीपधूपमोचफलैः ।
दशकमलेभ्योऽर्घं दयाम्यहं शुद्धभावेन ॥ ११ ॥

ॐ ह्रीं उत्तमक्षमादि दशकमलेभ्यो महार्घं ॥ ११ ॥

जयमाला ।

घत्ता ।

महाभरण मुनिजनहृदिकीधा, दर्शन बोध चरित्र धरी ।
ब्रह्मचर्यव्रतपालन, सहस्रअष्टादश, श्रीजिनभाषित, भेदकरी ॥१॥

मुनि वनितारूप विकार रहित ।
मुनि वनिता संगति नहिं करंत ॥
मुनि वनिता गोष्टि न मनधरंति ।
मुनि पंथि वनिता संग न चरंति ॥ २ ॥
मुनि देवनारि निश्चय त्यजंति ।
मुनिय सुभामा संग न भजंति ॥

मुनि चित्र काष्ट भामा न संति।
मुनि मानवनारि दूरि त्यजंति॥ ३॥
ए च्यार नारी जिनगुरु वदंति।
ते पि संग मुनि नहि गदंति॥
एक नारि एक मुनि नहि सरंति।
पशुगण कपोत संग न करंति॥ ४॥
ब्रह्मचर्य व्रत पद इन्द्रदेव।
ब्रह्मचर्य सुव्रत नागदेव॥
ब्रह्मचर्य व्रत सु चक्रधार।
ब्रह्मचर्य सुव्रत देवतार॥ ५
ब्रह्मचर्य सुव्रत श्रीविष्णुराज।
ब्रह्मचर्य सुव्रत प्रति विष्णुभाज॥
ब्रह्मचर्य सुव्रत गणधर सुबुद्धि।
ब्रह्मचर्य श्री जिनय रुद्धि॥ ६॥

घत्ता।

ब्रह्मचर्य सुव्रतपरं, ब्राह्मी सुन्दर प्रथम, वृपभजिन सुतारण।
श्रीअभयनंदीगुरु शील सुसागर सुमतिसागर जिनधर्मधुरा॥ ७॥

ॐ ह्रीं उत्तम ब्रह्मचर्यांगाय महार्घं।

इतिश्री दशलाक्षणिक व्रतोद्यापनं सम्पूर्णम्।